रजत जयन्ती स्मारक ग्रन्थ

ऋत वाणी

VOICE REAL

[पत्र, लेख एवं व्याख्यान]

प्रथम चयन

लेखक : रामचन्द्र

अध्यक्ष, श्री रामचन्द्र मिशन

अनुवादक : आत्माराम जजोडिया, बम्बई

श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर (उ०प्र०)

पिन–२४२००१

प्रथम हिन्दी संस्करण : १९८२
३२०० प्रतियाँ

सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य : रु० १५·००

प्रकाशक
श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर
(उ० प्र०)-२४२००१

मुद्रक
एकेडमी प्रेस,
दारागंज, प्रयाग

भारत सरकार से उपलब्ध कराये गये रियायती मूल्य के कागज पर मुद्रित।

अन्तर्वस्तु

			पृष्ठ
१. प्राक्कथन	...	...	पाँच
२. प्रकाशकीय टिप्पणी	...	...	ग्यारह
३. विषय-प्रवेश	...	...	बारह
भाग १ : मेरी व्यथा की कहानी	...	...	१-५४
मेरा दर्द	...	...	३
मेरा अस्तित्व	...	...	१८
ज्योति अब भी प्रज्ज्वलित है	...	...	२७
विपदाएँ	...	...	३५
आखिरी निश्चय	...	...	५०
भाग २ : गुरु का पथ-प्रदर्शन	...	...	५५-१४४
मेरे गुरुदेव का सन्देश	...	...	५७
व्यावहारिक प्रयत्न	...	...	७१
उपाय	...	...	८५
एकाग्रता	...	...	९६
प्रेम का मार्ग	...	...	१०३
मालिक की सहायता	...	...	११०
प्रगति के सोपान	...	...	१२९
भाग ३ : स्पष्टीकरण	...	...	१४५-२५८

प्राक्कथन

ऋत वाणी तभी सुनाई पड़ती है जब अन्य सभी वाणियाँ शान्त हो जाती हैं। उनके लिए जो इस पर ध्यान देते हैं तथा इसे ग्रहण करने के लिए तैयार रहते हैं यह शाश्वत रूप से गूँजती रहती है। वैदिक ऋषियों का यह संदेहरहित निश्चयात्मक कथन रहा है। विश्व के सभी आध्यात्मिक, धार्मिक आन्दोलनों के प्रवर्त्तक इस उद्घोष का समर्थन करते हैं। विज्ञान, कला, दर्शन और तकनीकी आदि के क्षेत्रों में मेधावी योगदानकर्त्ता भी किसी अन्तर्दृष्टि के अकस्मात् अवरोहण अथवा उत्पत्ति की बात करते हैं जो आधुनिक मनोविज्ञान के चमत्कार और नैराश्य को प्रदर्शित करती है। उस घटना की क्या विशेषता है? यह किन परिस्थितियों में घटित होती है? इसके बारे में भविष्यवाणी किस प्रकार की जा सकती है तथा इसका नियंत्रण किस प्रकार किया जा सकता है?

भारत में वैज्ञानिक विश्लेषण और अनुसंधान के वस्तुपरक मार्ग एवं धार्मिक विश्वास और अर्चना की व्यक्तिपरक प्रवृत्ति इस घटना से सम्बन्धित रहे हैं। आध्यात्मिक उच्चता की वह अवस्था जिसमें मानव-मन वास्तविकता का ग्राही बन जाता है वैदिक, बौद्ध, जैन, पातंजल और वेदान्ती यौगिक साधना-प्रणाली में सुव्यवस्थित परिशीलन और निरूपण का विषय रही है। वे महान गुरु जिनके आलेख हमें शास्त्रीय ग्रन्थों के रूप में उपलब्ध हैं किसी प्रकार का रहस्य बनाने के पक्ष में नहीं प्रतीत होते हैं। निश्चय ही व्यावहारिक दृष्टि से स्वार्थी सामान्य जनों ने इन ऋषियों का उपयोग एवं उनकी पूजा भविष्यवक्ता एवं पुजारी के रूप में किया तथा अपेक्षाकृत कम वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाले

कुछ गुरुओं ने अपने को इन स्थितियों को समर्पित भी कर दिया। यही नहीं, बहुतेरे ऐसे अग्रणियों ने जो अतिचेतनता की भ्रष्ट स्थिति को प्राप्त थे अपने में एक शक्ति संचित करने के प्रयास में सफल हो गये, जिसका व्यापारिक उपयोग अज्ञानी-जन-समुदाय की अन्धभक्ति के रूप में किया गया। यह विचित्र बात केवल भारत के लिए ही नहीं लागू है। सेव की पारिभाषिक विशेषता एक पूर्णतया विकसित फल से जानी जा सकती है न कि अपुष्ट, रुग्ण फलों से जो वायु, पक्षी एवं कीड़े-मकोड़ों द्वारा भूमि पर गिरा दिये गये हों, भले ही ऐसे फलों की संख्या प्रथमकोटि में पड़ने वालों से कहीं अधिक हो। यही बात किसी संस्था और धार्मिक जनों के बारे में भी है।

चिरंतन काल से इस बात पर मतभेद रहा है कि वेदों का पूर्व भाग अथवा उत्तर भाग वास्तविक श्रुति है। पूर्व भाग—कर्मकांड—मनुष्य को ईश्वर से मिलने के लिए तैयार करता है; जबकि उत्तर भाग आध्यात्मिक उच्चता की अतिचेतन अवस्था में अनुभूत निष्कर्षों को प्रदर्शित करता है। निश्चय ही संहिता और आरण्यक भाग ब्राह्मण और उपनिषद् भागों से पृथक् विशेषता रखते हैं; परन्तु हमें उनके विस्तृत विश्लेषण में यहाँ जाने की आवश्यकता नहीं है। इतना ही ध्यान देना पर्याप्त होगा कि पारम्परिक मीमांसकों और वेदान्तियों के मतभेदों के सम्बन्ध में हम बिना किसी जोखिम के यह मान सकते हैं कि पद्धति और निष्कर्ष दोनों अति-चैतन्यावस्था में उतरे। एक बार यदि किसी का चुनाव या उसकी स्वीकृति सर्वोच्च सत्ता ने कर ली तो फिर उसके स्व-प्रयास से सम्बन्धित प्रणाली-निर्धारण और मार्ग निर्देशन उसी (सर्वोच्च सत्ता) द्वारा निर्धारित होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, अन्तर्दृष्टि का कार्य-क्षेत्र मानव क्रिया-कलापों के सम्पूर्ण क्षेत्र को समाहित करता है यथा किसी जटिल अभौतिकी समस्या के समाधान से लेकर दैनिक अस्तित्व की व्यावहारिक कठिनाइयों तक। तर्क दृष्टि से भी ऋषियों में प्रणाली के सम्बन्ध में

निष्कर्ष की अपेक्षा अधिक मतैक्य प्रतीत होता है हालांकि मतैक्य को ही 'वास्तविकता' के आदेश का मानदंड नहीं माना जा सकता।

ज्ञान अथवा आदेश जो ऊपर से प्राप्त किया जाता है अथवा नीचे से उच्चावस्था प्राप्ति के फलस्वरूप उपलब्ध होने वाला, इन दोनों में अन्तर स्थापित करना वास्तव में बड़ा कठिन है। नैदानिक एवं ऊपरी की सामान्यता छुरे की धार के सदृश क्षीण किनारे के समान है और यही किनारा मानव-अस्तित्व की पराकाष्ठा है जिसके लिए देवता भी तरसते हैं,—जैसा कि आप्तग्रन्थ कहते हैं—'न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं किंचित्' (मनुष्य से बढ़ कर कुछ नहीं है)। जो इस धार पर अस्थिर रूप से टिके हैं उन्हें श्रुति बाहर से आती हुई प्रतीत होती है। वह प्रसन्न हो जाता है, जैसे कोई मूल्यवान् वस्तु हाथ लग गई हो जिसे वह एक उपहार मानता है न कि एक अर्पण। वह इतिहास में तबाही मचा सकता है। उसके लिए, जो इस किनारे पर सुस्थिर है, अन्तर-बाहर का द्वन्द्व समाप्त हो जाता है। उस दशा में उसकी प्रज्ञा अचूक, गुणवान, वास्तविक और शाश्वत होती है—ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। किसी अन्तरतम आत्मा की 'आत्मा' जो आत्मा से परे रहता है तथा जिसे ठीक ही परमात्मा कहा जाता है—से निःसृत अधिदेशन उसी परम शाश्वत को अत्युदात्त विनम्रता से समर्पित होते हैं, जिसे सभी विपरीत धारणाएँ लागू होती हैं तथा लागू नहीं भी होती हैं। इस प्रकार के व्यक्ति के लिए सभी अहंपूर्ण प्रदर्शन प्रवृत्ति का त्याग प्रिय से मदोन्मत्तकारक, द्रवीकारक परिरम्भण से प्राप्त आनन्द, समर्पण अथवा इस प्रकार की अन्य किसी भी स्थिति से अत्यल्प मूल्य का विनिमय होगा। ऐसा व्यक्ति सृष्टि का किरीट, मानव-इतिहास का स्तोत्र होता है। बुद्ध ऐसे को एक व्यक्ति नहीं बल्कि एक दशा कहते हैं। वह समग्र अनन्तता में व्याप्त होता है। वे जो उसके सम्पर्क में आते हैं धन्य हो जाते हैं तथा वे जो गहराई तक डूबते हैं परिपूर्ण हो जाते हैं। वास्तव में इस स्तर पर श्रुति का अवरोहण या आरोहण, स्वप्रकाशन अथवा उद्भासन निरर्थक

हो जाता है। अन्यथा स्थिति में, निश्चय ही वासना एवं इच्छा की वाणी का ऋत वाणी से पृथक् अभिज्ञान करना ही होगा।

भारत की मनोवैज्ञानिक प्रतिभा जिसने इस ऋत वाणी को पहचानने और अनुशीलन करने की तकनीकी की खोज एवं विकास किया मानव मात्र एवं भावी पीढ़ी से अक्षय कृतज्ञता की अपेक्षा करती है। मानव की समस्त दुर्बलता और काल की असारता के विपरीत श्रुतियों की दृढ़निश्चयता, अचूक प्रभावकारिता तथा अमर संजीवनी शक्ति उसे काम एवं इच्छा बुद्धि एवं अन्तरात्मा की वाणी से अलग स्थान प्रदान करते हैं। यह चैतन्यता और बौद्धिकता की निम्न वाणियों को परिपूर्ण करती है न कि उनका विरोध। इसलिए इनका नियन्त्रण और पोषण करना है न कि उन्हें दबाना या विनष्ट करना है ताकि मनुष्य में अब भी सुषुप्त उच्च संकायों की वृद्धि एवं परिशीलन हो सके। प्रारम्भ में निम्नकोटि की चिल्ल-पों को नियन्त्रित यहाँ तक कि शान्त कर देना है ताकि हल्की परन्तु सतत विद्यमान ऋत वाणी का स्वरमान इन्द्रियगम्य हो सके। जब यह सुनाई देने लगता है, अन्य ध्वनियाँ क्रमशः इसके ढाँचे में ढल जाती हैं तथा और अधिक बाधा नहीं उत्पन्न करतीं। हालांकि उच्चावस्था के जोखिम और दायित्व अवश्य ही विद्यमान रहते हैं जैसा कि किसी भी ऊँचाई के लिये लागू है।

सहजमार्ग साधना-पद्धति के प्रवर्त्तक श्री रामचन्द्रजी (बाबूजी) ने युगों से अन्वेषित तथा संचारित भारत की आध्यात्मिक प्रतिभा का जिस दिलेरी और आत्मविश्वास से दृष्टांतीकरण एवं स्पष्टीकरण किया है उसके लिये भारत की वर्तमान और भावी पीढ़ी तथा सामान्य तौर पर सम्पूर्ण मानवता की ओर से वे असीम कृतज्ञता तथा बधाई के पात्र हैं। उन्हें साधना और इसके लक्ष्य के सम्बन्ध में प्रत्येक विस्तार पर अक्षरशः पूर्ण स्वामित्व प्राप्त है चाहे वह थका देने वाले पंडिताऊपन के लिये कितना भी दुरूह और सूक्ष्म क्यों न हो। उनके संपर्क से हर धारणा जो युगों से अज्ञानी तथा महत्वाकांक्षी स्वार्थी तत्वों के प्रयासों से भ्रमित

और रहस्यात्मक हो गई है ताजी और सुस्पष्ट हो जाती है। वे भारतीय संस्कृति एवं मानवीय गरिमा में जो भी महान है उसके मूर्त प्रतीक रूप में भ्रमण एवं कार्य करते हैं तथा अपने गुरु, जो पूर्णता के प्रतीक थे, से भी आगे निकल जाते हैं, जो स्थिति मनुष्य की तुच्छ बुद्धि और सीमित दृष्टि में आंशिक रूप में ही समझ में आती है। उनके अस्तित्व तथा उनके महान गुरुदेव की सत्ता के परस्पर विलीनीकरण ने उन्हें यह अनुभव प्रदान किया है तथा उन्होंने यह पाया है कि उनकी वाणी और लेखनी उस आदेश के वाहक और लेखक हैं जो सर्वोच्च और सर्व प्रसारित है, जो उन सभी बाह्याभ्यन्तर को जो उनके व्यक्तित्व की संरचना करते हैं तत्काल ही सीमातीत कर देता है। उनके पार्थिव अस्तित्व के करुणामय दीप से निःसृत होने वाले प्रकाश से सभी स्थायी रूप से लाभान्वित होंगे।

प्रस्तुत ग्रन्थ-खण्ड में लेखक के कुछ ही भाषण तथा लेख संग्रहीत हैं। प्रथम भाग 'मेरी व्यथा की कहानी' उनके हृदय की गुरु के प्रति सर्वपरिग्राही प्रेम से लबालब होने की झलक देता है। यह उनके सर्वव्यापक कृपा के रूप में परिलक्षित होता है। दूसरा भाग 'गुरु का पथ-प्रदर्शन' शीर्षक से सहजमार्ग की पद्धति तथा तौर-तरीकों को बताता है जिसका अन्वेषण तथा प्रतिष्ठापन साक्षात्कार की इस पद्धति के, किंवा मानव-जीवन के उद्देश्य के समर्थ आदि गुरु की स्मृति में किया गया। अन्त में तीसरा भाग 'स्पष्टीकरण' नाम से है जो उनके पथ-प्रदर्शन में गम्भीर तथा वास्तविक रूप में जिज्ञासु प्रशिक्षार्थियों द्वारा उठाये गये हैं। आमतौर पर पूरी पुस्तक मुख्यतया पद्धति से सम्बन्धित है हालांकि इसी तक सीमित नहीं है। पद्धति को निष्कर्ष से पूर्णतया पृथक् कर देना असम्भव है, केवल एक या दूसरे पक्ष पर अधिक बल दिया जा सकता है। एक भावी ग्रन्थ-खण्ड से जो प्रस्तुत खण्ड के पूरक के रूप में निकलेगा यह अपेक्षा की जा सकती है कि वह श्री रामचन्द्रजी के भाषणों और लेखों में वर्णित पद्धतियों से प्राप्त निष्कर्षों पर बल देगा।

मैं इस संक्षिप्त एवं विनम्र परिचय का उपसंहार सबको विशेषकर उन्हें जो सत्य के निष्ठावान तथा मेधावी जिज्ञासु हैं—इस निमन्त्रण के साथ करना चाहूँगा कि वे इसमें निहित तथ्य का परीक्षण और सत्यापन करें। यदि कोई कृति किसी व्यावहारिक पक्ष से सम्बन्धित हो तो यह पर्याप्त नहीं है कि कृति के प्रति विचारधारा अथवा भाषा के गुण-दोष से प्रभावित हुआ जाय। कहावत है कि 'हलुवे का स्वाद खाने से मिलता है।' वही गुरु तथा उसके प्रति, जिसका प्रदर्शन वे करते हैं, के प्रति सर्वोत्तम गुणानुवाद होगा। वही किसी का किसी भी महत्वपूर्ण वस्तु, सत्य और वास्तविकता की तो बात ही क्या, के प्रति अपनी निष्ठा का परिरक्षण होगा। ऐसा हो कि प्रतिपालक दया के बादलों—धर्म-मेघ—से कृपा की वर्षा संशय और निराशा के धूल कणों को वातावरण से साफ कर दे तथा सभी जीवों को ताजगी और परितोष प्रदान करे जो उस वास्तविकता में डूब जाने को नियत है जिसकी वाणी उन तक पहुँचती है।

एस० पी० श्रीवास्तव
एम० ए०, पी०एच०डी०

लखीमपुर (खीरी)

प्रथम संस्करण (अंग्रेजी) की प्रकाशकीय टिप्पणी

परम विभूतिस्वरूप सद्गुरु की असीम कृपा से थोड़े समय बाद मिशन मानव-मात्र की सेवा के पच्चीस वर्ष पूरा करने जा रहा है। समर्थ सद्गुरु लालाजी महाराज के वार्षिक जन्मोत्सव के इस पवित्र मंगलमय अवसर पर Voice Real शीर्षक प्रकाशन आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें बड़ा हर्ष हो रहा है। इसमें हमारे मिशन के अध्यक्ष, परमपूज्य सद्गुरु श्री रामचन्द्रजी महाराज (शाहजहाँपुर के) द्वारा उद्घाटित आध्यात्मिक सत्य का सारतत्त्व संगृहीत है।

उच्चतम कोटि के आध्यात्मिक प्रशिक्षण के सर्वाधिक महत्त्व का अनुभव आज सबको तीव्रता से हो रहा है। हमारे अब तक के प्रकाशनों ने सभी जिज्ञासुओं के लिये सरलतया ग्रहणीय सहजमार्ग-साधना के क्रियात्मक पक्ष का केवल प्राक्कथन मात्र उनके सामने रखा है। आशा है अधिकाधिक संख्या में साधक उपलब्धि के उच्चतम लक्ष्य की ओर का मार्ग प्रशस्त पायेंगे, जो मानव-मात्र के लिये खुला है। इसी आशा के साथ यह रजत-जयन्ती स्मारक ग्रन्थ पाठकों के कर कमलों में समर्पित किया जा रहा है।

जे० आर० के० रायजादा
सुपरिन्टेन्डेन्ट, प्रकाशन विभाग
श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर
(उ० प्र०)

बसन्त पंचमी
१०-२-७०

विषय-प्रवेश

समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्रजी महाराज (फतेहगढ़ के) की दिव्य आत्मा मानव-रूप में इस पृथ्वी पर बसन्त पंचमी, तदनुसार २ फरवरी, १८७३ ई० को उतरी। उनका जन्म फतेहगढ़, जिला–फर्रुखाबाद, उत्तर प्रदेश के एक सम्भ्रान्त कायस्थ-परिवार में हुआ था। उनके पिता उस क्षेत्र के गण्यमान्य जमींदार थे। उनकी माता एक भक्तिपरायणा महिला थीं, जिनका अधिकांश समय ईश्वर की सेवा, पूजा-अर्चना में व्यतीत होता था। माता के हृदय की यह भावना पूरी तौर से पुत्र में उतरी जो बचपन में छोटी-सी उम्र से ही किन्हीं उच्च विचारों में डूबे रहते थे; लेकिन उन्हें इसका पता न था।

पाठशाला में जाने योग्य आयु होने पर उनके लिए एक शिक्षक नियुक्त किया गया जिसने उन्हें प्राथमिक शिक्षा प्रदान की। उन्होंने कुछ ही वर्षों में परिवार की दोनों परम्परागत भाषाओं, उर्दू एवं फारसी में बड़ी निपुणता प्राप्त कर ली। स्वभाव से वे शान्त, निश्चल एवं अन्तःस्थित थे। वे बड़े ही कर्त्तव्यपरायण थे, और बाल सुलभ खेल-कूद आदि में कभी समय बरबाद नहीं करते थे।

उनका इस संसार में आगमन अवश्यमेव प्रकृति के वर्तमान व्यवस्था को पूरी बदल देने की महान् योजना की पूर्व-पीठिका के रूप में हुआ, ताकि विश्व को अधःपतन के दुष्प्रभावों से मुक्त किया जा सके। वे चुपचाप और अदृष्ट रूप से मानव-जाति में पुनरुज्जीवन लाने का अपना काम करते रहे।

सर्वप्रथम उनकी दृष्टि भावी कार्य की आधारशिला रखने की तथा

उसके लिए कार्यकर्त्ता तैयार करने पर पड़ी। उन्होंने आध्यात्मिकता के मन्दिर का निर्माण-कार्य विशुद्ध ईश्वरीयता की नींव पर बिना किसी प्रकार का बाह्य बनावटीपन लादे आरम्भ किया। अध्यात्म के क्षेत्र में उनके नूतन आविष्कार वास्तव में आश्चर्य जनक हैं। जिस पद्धति का उन्होंने विश्व में सूत्रपात किया उसका लक्ष्य केवल परमतत्त्व अपने विशुद्ध एवं अत्यन्त सीधे-सादे रूप में था। इसके लिये जो उपाय उन्होंने बतलाये वे साधारण जन की दिनचर्या में सरलता के साथ व्यवहार में लाये जा सकते हैं। एक प्रकार से उन्होंने प्रकृति के कार्य के लिए क्षेत्र तैयार किया, और उसमें प्रथम बीजारोपण किया। यह सब कार्य सम्पन्न करके उन्होंने १४ अगस्त सन् १९३१ ई० को अपनी सांसारिक लीला समाप्त कर दी और अपने काम का उत्तरदायित्व अपने योग्यतम शिष्य, उत्तराधिकारी एवं प्रतिनिधि श्रीरामचन्द्र जी महाराज (शाहजहाँ-पुर के) पर छोड़ गये। यह केवल संयोग की बात है कि समर्थ सद्गुरु और उनके प्रतिनिधि दोनों का एक ही नाम (रामचन्द्र) है। स्पष्टता के लिए समर्थ सद्गुरु के नाम के पश्चात् 'फतेहगढ़ के' तथा उनके प्रतिनिधि के नाम के बाद 'शाहजहाँपुर के' लगा दिया जाता है। शाहजहाँपुर के श्रीरामचन्द्रजी ने अपने सद्गुरु के जीवन काल में ही उच्चतम आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त कर ली थी, और यह स्थिति उनको सिपुर्द किये हुए कार्य को सफलतापूर्वक पार लगाने में बड़ी सहायक सिद्ध हुई।

शाहजहाँपुर के श्रीरामचन्द्रजी ने आध्यात्मिक कार्य प्रारम्भ कर लेने के बाद पहला काम जो उन्होंने तुरन्त हाथ में लिया वह था एक व्यवस्थित संस्था की स्थापना, जिसका नाम उन्होंने अपने समर्थ सद्गुरु के नाम पर श्रीरामचन्द्र मिशन रखा। उनकी योजना के साथ सहमति रखने वाले सहयोगियों ने उनके काम में सहायता दी। मिशन की स्थापना सन् १९४५ में हुई और उसी साल संस्था 'सोसायटीज एक्ट'

के अन्तर्गत पंजीकृत करवा दी गई। शाहजहाँपुर के श्रीरामचन्द्रजी उसके संस्थापक–अध्यक्ष बने।

सद्गुरु श्री रामचन्द्रजी (शाहजहाँपुर के) प्रकृति का एक आश्चर्य हैं। प्रकृति का झुकाव पूर्णतया उनका सहायक है, और प्रकृति की योजना को सफल बनाने के लिए जो भी मार्ग वे उचित एवं आवश्यक समझें, उसे अपनाने में उन्हें पूरी स्वतन्त्रता है। इस क्षेत्र में उनका समस्त कार्य-कलाप ईश्वरीय आज्ञाओं के अनुसार चलता है, जो मूल "आधार" से सीधे उन तक पहुँचती हैं। लोग विश्वास करें या न करें, किन्तु आज प्रकृति का यही रुख है। उनकी योग्यता का अनुमान कोई भी उन विचार की लहरों से लगा सकता है, जो उनके हृदय से उच्चतम अतिचेतना की अवस्था में प्रवाहित होती हैं। प्रकृति की सभी शक्तियाँ उनके अधीन रहती हैं, और वह उनका उपयोग उन्हें सौंपे हुए कार्य को सम्पन्न करने के लिये स्वेच्छापूर्वक कर सकते हैं। अब उन्होंने अपना यह कार्य समस्त मानव-जाति के सार्वजनीन भले के लिए करना आरम्भ कर दिया है।

उन्होंने साधना की एक नयी पद्धति विकसित की है, जिसका नाम 'सहजमार्ग' या ईश्वर-साक्षात्कार का स्वाभाविक मार्ग है। यह पद्धति उद्भव की दृष्टि से राजयोग के मौलिक सिद्धान्तों पर आश्रित है। फिर भी इसका व्यावहारिक क्रियात्मक पक्ष योग के नाम से परिचित पुरानी रूढ़ पद्धति से लगभग पूर्णतया भिन्न है। साक्षात्कार एक अत्यन्त सूक्ष्म विषय है, जिसका भौतिकता या पार्थिवता से बिल्कुल सम्बन्ध नहीं होता। इसकी साधना तदनुरूप सच्चे अर्थ में लेना अत्यन्त आवश्यक है। इस सूक्ष्मतम विज्ञान के साथ जोड़ी हुई पुरानी रूढ़ पद्धति को भौतिक या पार्थिव अतिरिक्तता ही नहीं, केवल अपमिश्रण कह सकते हैं। इससे उसका वास्तविक मूल्य गिर गया। सहजमार्ग इन सब थोपकर शामिल की हुई वस्तुओं को अनावश्यक ही नहीं, हानिकारक भी

समझता है। वह मूल उद्देश्य से निकट की अभिलग्नता पर बल देता है, और ऐसे सीधे उपाय बताता है, जो आज के जीवन की दैनिकचर्या में सरलता से व्यवहार में लाये जा सकें। इस दृष्टि से एक नवीन दर्शन होने का सहजमार्ग का दावा बिल्कुल यथार्थ है।

भविष्य के लिए प्रकृति की योजना ठीक वैसी ही है, जो ऐसी परिस्थितियों में हमेशा रहती आई है। विश्व के आध्यात्मिक स्वरूप बिल्कुल नष्ट हो जाने से, आधुनिक सभ्यता की अनैतिक प्रवृत्ति ने मानव को प्रकृति से अधिकाधिक दूर कर दिया है। व्यावहारिक अर्थ में मनुष्य एक शुद्ध भौतिक सत्ता बनकर रह गया है जिसका भौतिक पदार्थ ही एक मात्र उद्देश्य है। जगत् के आधुनिक ढाँचे में आध्यात्मिकता को कोई स्थान नहीं रहा। इस प्रकार की परिस्थितियों में प्रकृति की इच्छा अपना रास्ता अपने आप निकाल कर रहेगी, चाहे संशोधन-सुधार हो या संहार और विनाश। भूतकाल में भी हमेशा यही कार्य-प्रणाली प्रयुक्त होती रही है। इस समय प्रकृति की मानव-जाति का पुनरुज्जीवन करने की योजना कार्यान्वित हो रही है। संहार तथा निर्माण, यही दो, उसके वैकल्पिक रास्ते हैं। बुराई का नाश अवश्यभावी है, ताकि भलाई की बढ़ती को जगह मिल सके। शाहजहाँपुर के समर्थ सद्‌गुरु श्री रामचन्द्रजी इस बात को अपनी समस्त लिखित रचनाओं तथा वाचिक संदेशों में बिल्कुल स्पष्ट कर चुके हैं। इस कार्य के लिए नियुक्त 'विशिष्ट विभूति' अपना कार्य आरम्भ कर चुकी है, और घटनाएँ दिन-प्रति-दिन सामने आ रही हैं। विश्व विनाश की ओर बेतहाशा बढ़ता जा रहा है, और मानव की प्रवृत्ति के सभी विभागों में भौतिकता की सर्वप्रमुखता इसका अचूक परिचायक है। इस सिलसिले में समर्थ सद्‌गुरु की 'वाणी' विश्व के लिये चेतावनी होनी चाहिये, तथा लोगों को प्रकृति की योजना के अनुरूप सही रास्ते की ओर मुड़ने को प्रेरित होना चाहिए।

शुद्धि पत्र

कृपया पृष्ठ सं० १ से ३२ तक बायें पृष्ठ पर पुस्तक का नाम 'अमृत वाणी' के स्थान पर 'ऋत वाणी' पढ़ें।

भाग १

मेरी व्यथा की कहानी

"मेरे अभ्यास का सम्पूर्ण काल दर्द भरी बेचैनी में बीता न कि शान्ति और स्थिरता में, जिसकी हर व्यक्ति लालसा करता है।"

मेरा दर्द

हर आदमी के दुःख-दर्द की अपनी रामकहानी होती है। मेरी भी अपनी एक है, पर वह औरों से दूसरे ढंग की है। जब भाग्य की मुझ पर कृपा हुई तब मुझे मालिक के चरणों की शरण मिली और मैंने अपने आप को पूरी तरह उनकी इच्छा के हवाले कर दिया। बहुत शीघ्र मेरे मन की स्थिति कुछ विचित्र सी हो गई जो बहुत समय तक उसी तरह बनी रही। कुछ समय बाद उसने एक तरह की बेचैनी और दर्द का रूप ले लिया। यह दर्द धीरे-धीरे इतना अधिक बढ़ गया कि यदि वह ऐसे व्यक्ति को होता जिसे आध्यात्मिक स्पर्श न हुआ हो तो वह जरूर आत्म-हत्या करने पर उतारू हो जाता। परन्तु मेरे अन्तरतम में एक ऐसी भावना घर किये हुए थी कि "भगवन्, तेरी इच्छा के अनुसार ही सब होवे।" वही मुझको सहन करने का साहस और सान्त्वना देती रही।

यह दर्द की तीव्र प्यास या तड़प, या बेचैनी, जो भी कहिए, मेरे दिल को इतनी प्यारी थी कि उसके लिए मैं अपने सहस्रों जीवनकालों को बलिदान करने को तैयार था। अब भी मैं चाहता हूँ कि वह दर्द मुझमें फिर उठे जिसकी किसी भी प्रसन्नता या आनन्द से तुलना नहीं हो सकती। इसकी संसार में कोई उपमा

नहीं; इसके लिए तो कोई स्वर्ग-सुख से भी वंचित रहना पसन्द करेगा। मुझे डर है कि कुछ लोग इसे पागलपन की सनक समझ लें। मगर मेरे प्यारे भाइयों, भूखे को तो सिर्फ रोटियों से ही वास्ता है, और मेरे व्यक्तित्व के पूरे ढाँचे का निर्माण इसी तरह हुआ है। इसलिए मैं अन्तस्तल से यह चाहता हूँ कि यह दर्द आप सब में भी उसी तरह उठे। यह मेरे लिए एक संतोष का साधन होगा। इस तरह मुझे संतोष पहुँचाना क्या आपका कर्तव्य नहीं है? यदि किसी में अणु मात्र भी भक्ति का स्पर्श है तो वह स्वभावतः यह काम करने को बाध्य हो जायगा। इससे मुझे सम्पूर्ण जीवन के कठोर श्रम और व्यग्रता के बाद शान्ति और सान्त्वना की आशा बँधेगी। यह साधक के मूलभूत कर्तव्यों में से एक है।

लोग शान्ति के लिए लालायित रहते हैं, फिर कौन उन्हें लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बेचैनी भरी तड़प की ओर प्रेरित करे? मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि इस बेचैनी का आकर्षण शान्ति से बहुत बढ़ा-चढ़ा है। जिस शान्ति की लोग चर्चा करते हैं उसे पाना भी एक ऊँची उपलब्धि हो सकती है। ध्यान के दौरान हर अभ्यासी को इसका स्वाद मिलता है। पर इससे यह प्रकट होता है कि उसका भी कहीं न कहीं केन्द्रबिन्दु अवश्य होगा। जब बेचैनी अपनी उच्चतम सीमा तक पहुँच जाती है तो वह शान्ति के प्रारम्भ की पहिचान कराती है। ऐसा हो सकता है। मुझे डर है कि कोई कह सकता है कि वह अध्यात्म के क्षेत्र में

शान्ति प्राप्त करने आया है न कि दर्द या बेचैनी। वे अपने दृष्टिकोण से शायद ठीक भी माने जायें। परन्तु अपने दृष्टिकोण से मैं तो यही कहूँगा कि पहला विकल्प केवल उन्हीं के लिए है जिनकी दृष्टि एक मात्र उस (ईश्वर) पर दृढ़ता से जमी हो। जबकि दूसरी चीज, हम कह सकते हैं, केवल मस्ती के उपभोक्ताओं के लिए है। इसका पाना बहुत कठिन नहीं है। मगर पहले विकल्प यानी दर्द को प्राप्त करना, वास्तव में कोई बच्चों का खेल नहीं है। बड़े से बड़े सन्त भी इसके लिए तरसते ही चले गये। उनमें से बहुतों ने शान्ति का स्वाद जरूर चखा होगा। अब हम 'उस' का स्वाद भी चख कर देखें, जिसकी एक चिनगारी के लिए शान्ति और तुष्टि की हजारों हालतों से वंचित रहना भी कोई पसन्द करेगा। वही उस तंत्र की नींव है जिसकी सहायता से कुछ इनी-गिनी बड़ी हस्तियाँ संसार के सामने आई हैं। मैं यह भी बता देता हूँ कि यही मानवता की सेवा करने का सबसे अच्छा रास्ता है, और इस राह का राही कभी सफलता प्राप्त किए बिना रह ही नहीं सकता। इससे अभ्यासी की राह में आने वाली गुत्थियों को सुलझा कर आगे का रास्ता साफ करने में बड़ी मदद मिलती है।

लेकिन मेरे पास आध्यात्मिक प्रशिक्षण के लिए आने वालों में से अधिकांश शान्ति के लिए ही लालायित रहते हैं और मुझे उनकी इच्छा पूरी करनी पड़ती है। ऐसे उदाहरण बहुत बिरले हैं जो वास्तव में उस बेचैनी भरे दर्द के इच्छुक पाये गये।

वास्तव में वास्तविक शान्ति की स्थिति तो मनुष्य की समझ से परे की चीज है; और जिसमें विषमता की कोई वस्तु नहीं रहती, उसे मोटे तौर पर—जो कि बहुत उपयुक्त तो नहीं है—शान्ति की शान्ति या शान्ति का सारतत्व कह सकते हैं। एक कवि ने यह बात इन शब्दों में कही है।

'दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना।'

संक्षेप में, यही मेरे दर्द की रामकहानी है जिसे मैंने दर्द भरे शब्दों में शायद आपको सुनाया है। जब आपके हृदय में इस दर्द की ऐसी बाढ़ आ जायगी कि आप स्वयं दर्द के समुद्र बन जायेंगे तभी मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा। तो फिर इसका मतलब क्या है? न दर्द, न बेचैनी, न मिलन, न वियोग, न शान्ति और न उसका उल्टा। यह तो वही है जिसके लिए हमने दर्द जगाया था। क्या ही अच्छा होता मेरे अन्तस्तल से आये हुए इन शब्दों का आप सब पर वही प्रभाव होता जो मैं चाहता हूँ। भरोसा रखिये, इसमें कुछ भी कठिन नहीं है क्योंकि ईश्वरीय मार्ग में कठिनाई जैसी वस्तु है ही नहीं। अडिग निश्चय और अविभाजित ध्यान केवल ये दो चीजें ही जरूरी हैं। उसके बाद हर वस्तु जिसकी आपको खोज है वह आपके पास में ही बल्कि आपके भीतर ही मिल जायगी। नहीं, नहीं, आप स्वयं वही हैं जिसकी आप खोज में हैं। उसके लिए सिर्फ एक दहकते हुए हृदय की आवश्यकता है जो राह के काँटे और झाड़ियों को

भस्म कर दे। आपको वही बनना है जो वास्तव में आप हैं; और दर्द उसका प्रमाण है, व बेचैनी उसकी पूर्वगामी स्थिति।

मैं इस हालत में करीब चालीस दिन से भी अधिक तक रहा। इसके बाद उसका स्वरूप बदल गया और एक ऐसी शान्ति का रूप ले लिया जिसके साथ एक विचित्र तरह की बेचैनी और अधीरता जुड़ी हुई थी जो लगातार बाईस साल तक बनी रही। संक्षेप में, मेरे अभ्यास का सम्पूर्ण काल दर्द भरी बेचैनी में बीता। पर यह सब केवल मेरे ही भाग में पड़ा। मेरे साथी गुरु बन्धुओं में से किसी ने भी इसमें जरा सा भी हिस्सा नहीं लिया। मेरे दिल में उसके प्रति एक अजीब आकर्षण था। हो सकता है मैंने शान्ति का गलत अर्थ, और उसे दर्द और बेचैनी ही मान लिया हो। पर अब चूँकि समय बदल गया है और हर आदमी शान्ति का ठीक-ठीक अर्थ पूरी तौर से समझता है, इसलिए वह उसी की ओर झुकता है और उसी के लिए लालायित रहने लगता है। पर इस तरह का विचार मेरे दिमाग में कभी नहीं आया और मेरा नाम इस प्रकार कलंकित होने से बच गया, जिससे सिद्ध होता है कि मैंने गुरुदेव को शान्ति प्रदान करने को बाध्य नहीं किया। मैंने जो कुछ भी पाया वह मुझे वरदान के रूप में मिला जिसके लिए मैं पूर्णरूप से केवल अपने सद्गुरु का ऋणी हूँ।

अब हम यह सोचें की हृदय में इस प्रकार की भावना विकसित करने के लिए कौन से उपाय आवश्यक हैं। इसके लिए हमें

उन सभी बातों पर विचार करना होगा जो इस बारे में हमारे सहायक हैं और उन पर भी जो हमारी प्रगति में बाधक बन सकती हैं। पूरे जीवन भर के अनुभव के बाद मेरे ध्यान में आया कि इस मार्ग में सबसे बड़ी बाधा हमारी पक्षपात और पूर्वाग्रह की भावनायें हैं, जिन्हें मोटे तौर पर अहंकार का ही एक प्रकार मान सकते हैं। यह अनेक तरह के रूपों में विद्यमान रहता है, जिन्हें सभी लोग जानते हैं। मेरा कथन एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। अगर कोई राजा हर घड़ी यह सोचता और कहता भी रहे कि मैं राजा हूँ, तो वह अपने चारों ओर लगातार स्थूलता और ठोसता की परतें जमाता चला जायगा। उस हालत में सब उसे मिथ्याभिमानी एवं घमंडी ही कहेंगे। जब यह हालत सीमा लाँघ जायगी तो वह दूसरा रावण बन जायगा, जिसके अनेक सिरों में एक सिर गधे का था, जो उसके मूर्खतापूर्ण धृष्टता का प्रतीक था। राजा स्वयं अपने आपको राजा समझे इसके बजाय लोग उसे राजा समझें यही उपयुक्त होगा। अपने आप तो उसे विनयशील और दयालु होना चाहिए, और निर्बलों तथा गरीबों का सहायक। तभी प्रजा का सम्मान प्राप्त करने में सक्षम होगा। जब कोई अपने को छोटा और नीचा समझता है तभी वह उच्चता के शिखर तक चढ़ सकता है। विनय से जो सिद्ध हो सकता है वह धृष्टता से कभी नहीं मिल सकता। इसलिए व्यक्ति को अपने महान गुण को कभी नहीं छोड़ना चाहिए, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, उच्च वर्ण या नीच जाति

का, ब्राह्मण या शूद्र। ईश्वर की कोई जाति, सामाजिक भेद-भाव कुछ नहीं है। अतएव मनुष्य-मनुष्यके बीच में भी इनको लेकर कोई भेद भाव नहीं होना चाहिए। यह एक ईश्वरीय गुण है, और प्रत्येक को इसे अपने भीतर विकसित करना चाहिए। इसके बजाय यदि हम अपने से नीचे वालों और छोटों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं तो हम अपने कर्तव्य और धर्म के मार्ग से च्युत हो जाते हैं। ईश्वर सबमें बसा हुआ है; इसलिए किसी से भी घृणा करने का कोई औचित्य नहीं ? प्रगति के पथ पर बढ़ता हुआ अभ्यासी एक समय इस स्थिति को पहुंच जाता है। कबीर ने इसे बहुत सुन्दर ढंग से अपनी साखियों में से एक में कहा है :–

> "नीचे कुल में जन्मे हुए सद्गुरु की शरण लेकर अनन्त कृपा से पार उतर गये। परन्तु ऊँचे कुल वाले उच्चता के अभिमान से भरकर अन्त में डूब गये।"

इसलिए हर व्यक्ति को इस दुर्गुण से मुक्त रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

शायद मेरा भाग्य ही खोटा है; क्योंकि अभ्यासी की सारी दुर्बलताओं के लिए केवल मुझे ही उत्तरदायी माना जाता है। मेरे सहयोगियों में कुछ ऐसे भी हैं जो स्वयं कुछ भी कष्ट उठाना नहीं चाहते; और यह आशा रखते हैं कि मैं ही अपनी आन्तरिक

शक्ति से उनके लिए सब कुछ कर दूँ। वे चाहते हैं कि सत्संग की ओर उन्हें मैं ही खींच ले जाऊँ। उनके दैनिक अभ्यास में मैं ही उन्हें लगाये रखूँ; और उन्हें सही रास्ते पर ठीक-ठीक पक्का करके अपनी इच्छा और शक्ति के सहारे ही मंडल और दशाएँ पार कराता रहूँ। वे अपने प्रयत्नों से जीवन के तौर-तरीकों में कोई परिवर्तन करना नहीं चाहते, और न आदतों को बदलना चाहते हैं; और न बताये अनुसार अभ्यास या साधना करना चाहते हैं। परन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी अपने सारे पिछड़ेपन या प्रगति न होने के लिए दोषी मुझे ही ठहराते हैं। मैं भी अपने विचित्र स्वभाव के कारण वैसा ही मानने लगता हूँ। इसलिए कभी-कभी उनकी परवाह या सहकार के बिना भी मैं प्रत्येक के लिये जो सर्वोत्तम मालूम पड़ता है उसे उनमें ठूँस-ठाँस करने की कोशिश करता हूँ। एक दो अभ्यासी भाइयों ने तो मेरा यहाँ तक दोष निकाला कि मैंने उन्हें ऊँची दशा एकदम से नहीं दी। क्या और कहीं ऐसी विचित्र बात की आशा की जाती है ? मुझे पूरा निश्चय है कि ऐसा कहीं नहीं होता। तो फिर यहाँ ही ऐसा क्यों है ? हो सकता है इसका कारण यह है कि मैं इस बारे में आवश्यकता से अधिक नरमी बरतता हूँ। यह कहाँ तक न्याय संगत या उचित है, यह निर्णय मैं आप पर ही छोड़े देता हूँ। इस सम्बन्ध में मुझे एक उदाहरण याद आता है जो यों है—एक महात्मा अपने एक शिष्य की भक्तिपूर्ण सेवा से बहुत प्रभावित हुए और उस पर अपनी सारी कृपा एक साथ

ही उँड़ेलने लगे, ताकि वह पूर्णरूप से परिवर्तित होकर उनके सदृश ही बन जाय। फलत: ज्यों ही संचारण की क्रिया पूर्ण होने को आई, शिष्य मौत की घड़ी गिनने लगा। मान लीजिये कि पूज्य गुरु महाराज की कृपा से वैसी शक्ति मुझमें भी हो, और मैं उसका प्रयोग अभ्यासी के जीवन की पूरी रक्षा करते हुए करूँ, तो सारा काम नि:संदेह क्षण भर में सम्पन्न हो जायगा। परन्तु अभ्यासी के लिए इस सब का कोई उपयोग नहीं होगा क्योंकि उसमें बलात् ठूँसी हुई दशा को वह पहचान नहीं सकेगा। कारण यह है कि उसके पहले तक तो उसे नीचे की स्तर वाली दशा की ही आदत पड़ी हुई थी। फलत: वह उसे समझ ही नहीं पायेगा। आमतौर पर किसी साधारण आदमी के लिए ऊँची से ऊँची उपलब्धि शान्ति की प्राप्ति हो सकती है। पर ऊपर कही हुई स्थिति शान्ति से बहुत अधिक आगे की है। इसलिए उसमें ऐसी स्थिति को पूर्णतया व्यक्त होने में पर्याप्त समय लगेगा। सम्भव है, इस बीच अगर उसमें प्रतीक्षा करने का धीरज न रहा, तो 'ठगा गया' समझ कर शायद वह इस मार्ग को बीच ही में छोड़ दे। इसके अलावा यदि हालत क्षणभर में पूरे जोर से लाई जाय तो उसकी नस-नाड़ियों के छिन्न-भिन्न हो जाने का खतरा रहता है। और वह दूसरे शब्दों में किसी को स्वर्ग में पहुँचाने के लिए जानबूझ कर उसकी हत्या कर देने के समान हो सकता है।

इसके अलावा एक रास्ता और भी है। वह है मन को केवल क्षणभर में ही सुनियमित अवस्था में ले आना। मैंने एक

बार एक उच्चकोटि तक पहुँचे हुए अभ्यासी पर ऐसा प्रयोग केवल क्षण भर के लिए, बहुत ही हल्के स्पर्श से किया था और वह भी पूरी सुरक्षा रखते हुए। प्रतिफल बिलकुल वैसा ही और उतना ही हुआ जो मैं चाहता था। पर उसके हृदय पर करीब डेढ़ महीने से भी अधिक तक भारी बोझ सा बना रहा। इसलिए उस समय के दौरान मुझे उन पर बड़ी सतर्क दृष्टि रखनी पड़ी कि कहीं उनका दिल फट न जाय। यह सब मैंने उसकी गहरी भक्ति को देखते हुए हर तरह के खतरे से उन्हें बचाकर किया। और केवल वही ऐसे थे जिसपर यह प्रयोग सम्भव था। पर दुःख की बात है कि और किसी ने आज तक मुझे वैसा प्रयोग करने को अभिप्रेरित नहीं किया। अपनी ओर से मैं हमेशा किसी को भी कम समय में ऊँची से ऊँची आध्यात्मिक उन्नति देने को अत्यन्त लालायित रहता हूँ। अगर कोई मेरी तरफ एक कदम बढ़ाये तो मैं उसकी ओर चार कदम बढ़ाने को अत्यन्त उत्सुक रहता हूँ।

मुझे स्वामी विवेकानन्द के कथन की याद आती है कि मनुष्य शरीर, मोक्ष की आकांक्षा, और महान आत्मा से सम्पर्क, इन सबका संयोग बड़ी मुश्किल से सधता है। निस्संदेह यह बात बिल्कुल ठीक है। मोक्ष या किसी उच्च आकांक्षा के रखने वाले बहुत कम होते हैं। उससे भी कम वे मिलते हैं जिनमें यह लगन तीव्रतम तड़प बन जाती है। परन्तु लक्ष्य के लिए ऐसी तड़प होना ही पर्याप्त नहीं होता, जब तक किसी अत्यन्त ऊपर उठी

हुई आत्मा से अतिनिकट का सम्पर्क न सधे। मान लीजिए वह भी हो जाय। फिर भी एक कमी रह जाती है। वह है अभ्यास। जब इन तीनों का संयोग मिल जाता है तभी अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव हो सकती है। सभी महान संतों का यह सुस्थिर मत है।

मेरे साथ एक कठिनाई और है। बड़ी जल्दी छूट दे देना और बाहरी दबाव में आ जाना मेरा स्वभाव सा है। इसलिए सहायता या अनुग्रह के लिए की गई ऐसी किसी मांग को मैं टाल नहीं सकता बशर्ते कि और किसी दृष्टि से वह अनुचित न हो। इसे कोई मेरा दुर्गुण मान सकते हैं, पर ऐसा करने के मेरे कुछ निजी कारण हैं जिन्हें मैं सर्वसाधारण के सामने खोलना पसन्द नहीं करता। हालांकि मेरी हार्दिक इच्छा यही है कि आप सब भी स्वयं इसका स्वाद चखें। इसलिए अच्छा है कि यह दुर्गुण मेरा ही रहे और सिर्फ मुझ ही में बना रहे। अपनी आध्यात्मिक साधना के लिए कोई जो कुछ भी मुझसे चाहता है, मैं अन्तरतम से उसे पूर्णतया वह देने को प्रेरित रहता हूँ; और उसकी इच्छित वस्तु उसे देता भी हूँ। उदाहरण के लिए मेरे पास आने वालों में से अधिकांश शान्ति चाहते हैं और उनकी इच्छानुसार मैं उनमें वही संचारित करता हूँ। इस प्रकार मुझे बाध्य होकर उन्हें शान्ति की ही एक पर एक मात्रायें देते रहना पड़ता है, और वास्तविक लक्ष्य की ओर काम रुका रहकर उसमें काफी देरी हो जाती है। ऐसे लोगों का आध्यात्मिक प्रशिक्षण मैं खुलकर स्वतन्त्रतापूर्वक वास्तविक आध्यात्मिक ढंग से नहीं कर सकता।

विश्राम के समय में अधिकतर मैं प्रशिक्षण पाने वाले अभ्यासियों की 'सफाई' करता रहता हूँ, ताकि उनमें ईश्वर का सतत स्मरण पैदा हो। यह सेवा मेरे लिए ईश्वर की सेवा के बराबर ही है, अतएव मैं उसे अपना सबसे बड़ा कर्तव्य मानता हूँ। पर यह बड़ा कठिन काम है, और इसमें काफी लम्बे समय की अपेक्षा होती है। इससे अभ्यासी का धीरज भी छूट सकता है। आमतौर पर जब 'सफाई' का काम चलता रहता है या जब संस्कार और बन्धन ढीले किये जाते हैं तब ध्यान में मन नहीं लगता। परन्तु यही एक मात्र प्रभावकारी मार्ग है जिससे पवित्र लक्ष्य की प्राप्ति में सबसे अधिक सहायता मिलती है। यह सब करते हुए मुझे अभ्यासी के संतोष और शान्ति की इच्छा का भी ध्यान रखना पड़ता है, जिनका उसकी दृष्टि में सबसे अधिक मूल्य है। इसलिए जब ऐसी प्राणाहुति दी जाती है तो वह समझने लगता है कि कोई असर नहीं हो रहा। फलस्वरूप वह सत्संग तक छोड़ देता है। ठीक तो यह होता कि वह शिक्षक की क्षमता अच्छी तरह जाँच कर उसे पूर्ण समर्थ पा लेने के बाद पूरे विश्वास से उसका अनुसरण करता और हर चीज को पूरा-पूरा उसी के भरोसे छोड़ देता। अपने आध्यात्मिक प्रशिक्षण के साधन और उपायों के बारे में गुरु पर प्रतिबन्ध नहीं लादना चाहिए। क्योंकि अभ्यासी के हित में सबसे अच्छा क्या है यह केवल गुरु ही समझ सकता है।

बहुधा कुछ अभ्यासियों की शिकायत रहती है कि उनके

निजी अभ्यास में उतनी स्थिरता और अन्तर्शोषण नहीं मिलता जितना मेरे साथ बैठने में। यह बिल्कुल स्वाभाविक है, क्योंकि उनका मुख्य लक्ष्य शान्ति पाना है न कि साक्षात्कार। इसके अलावा अगर मैं उनसे पूछ ही लूँ कि घर पर वे कितनी बार और कितने समय तक अभ्यास में बैठते हैं, तो प्रकट हो जायगा कि अधिकांश पूरे हफ्ते में घंटे भर भी नहीं बैठते। कुछ संस्थाओं में हर रोज छः घंटे या अधिक ध्यान लगाने को कहा जाता है, और बाकी समय सत्संग में बिताना होता है। मैं तो केवल एक घंटा सुबह और एक घंटा शाम की ही सलाह देता हूँ। पर उतने के लिए भी लोग टाल मटोल करते हैं, कि उन्हें समय नहीं मिलता या ध्यान नहीं जमता। कारण तो वास्तव में वे अपने आप ढूंढ सकते हैं। अगर बुरा न मानें तो बतला दूं कि यह केवल उनकी रुचि, दिलचस्पी और लगन की कमी है। अगर ईश्वर के प्रति आन्तरिक लगन है तो ध्यान कर्तव्य का एक भाग बन जाता है। फिर मन के झुकाव या ध्यान न जमने का प्रश्न ही नहीं उठता।

बहुधा लोग ध्यान की अनियमितता के लिए बहाने प्रस्तुत करते हैं कि उन्हें बड़ी चिन्ता व तकलीफें हैं; और काम-काज भी घेरे रहते हैं। उनका मतलब होता है कि वे ध्यान में तभी बैठ सकते हैं जब इन सब बाधाओं से मुक्त हो जाँय। वास्तव में वे चाहते हैं कि मैं अपनी इच्छा या शक्ति से उन्हें सारी चिन्ता बाधाओं से बाहर खींच निकालूँ, और अभ्यास

के मार्ग पर लगा दूँ। तभी वे मार्ग पर चलेंगे और अभ्यास के लिए तैयार होंगे। मेरे पास इसका कोई जवाब नहीं, क्योंकि मैं स्वयं अब तक इसका कोई उदाहरण नहीं प्रस्तुत कर सका। मैं तो सिर्फ इसी बात पर जोर देना चाहता हूँ कि लोगों में उनकी कर्तव्य भावना तो सजग रहनी चाहिए। मैं अपना कर्तव्य करने को वचन बद्ध हूँ, तो उन्हें भी अपना कर्तव्य निभाना ही चाहिए। वे नियमित रूप से अभ्यास करते रहें, फिर देखें कि उससे लाभ होता है या नहीं। पर अभ्यास के साथ-साथ प्रेम और लगन की भावना जरूर होनी चाहिए। अपने हृदय की बात आपको बताता हूँ—मेरे पूज्य गुरुदेव की कृपा से जो भी कुछ मुझे मिला है, वह सारा, मैं उस पर मुक्त हृदय से न्यौछावर करने को तैयार हूँ, जो उसे लेने लायक बनने को तैयार हो। मगर आज तक ऐसा कोई नहीं आया दिखाई देता जो अपना पात्र लबालब भरवाने आया हो। मैंने बहुधा अभ्यासियों के सामने मेरे पास जो कुछ भी है सारा लूट लेने को, और बदले में जो कुछ उनके पास है वह सब मुझे दे देने का प्रस्ताव किया है। उचित विनिमय तो कोई डकैती नहीं है? अब यह भी देख लिया जाय कि उनकी सम्पत्ति क्या-क्या है। साफ बात है कि जिन्होंने राजा जनक और अष्टावक्र ऋषि की कथा सुनी है, वे तो तुरन्त यही अन्दाजा लगायेंगे कि वह केवल मन ही होगा। पर उससे मेरा मतलब यह नहीं है, क्योंकि राजा जनक सरीखे व्यक्तियों के लिए ही संभव हो सकता है कि अपना मन दे सकें और ऋषि अष्टावक्र सरीखे उसे ले भी

सकें। मैं तो अष्टावक्र हूँ नहीं जो ऐसी हिम्मत कर सकूँ। उनकी गठरी वास्तव में उन संस्कारों की है जो उन्होंने अब तक इकट्ठे किये हैं। 'सत्य का उदय' में मैंने उल्लेख किया है कि अधिकांश लोग गुरुदेव के क्षेत्र में अपना सम्पूर्ण साज-सामान लिए हुए ही घुस पड़ते हैं। इससे बड़ी देरी हो जाती है। गठरी तो उनकी अपनी पैदा की हुई चीजों की ही है जिनमें वे आकंठ डूबे हुए हैं। ईश्वर सब कुछ से विरहित, पूर्णतया मुक्त है। इसलिए उसमें वही समा सकता है जो उसी जैसा बन जाय। मैं विषय का अधिक विस्तार नहीं करना चाहता। आप सब पढ़े-लिखे, समझदार लोग हैं और अपना कर्तव्य खूब समझते हैं।

ईश्वर की महत्ता का प्रतिबिम्ब उसी हृदय में पड़ता है जो दर्पण की तरह निर्मल है। परमेश्वर आप सबको वह क्षमता प्रद. . करे ताकि आप वैसे ही बन कर अपने अस्तित्व की समस्या हल कर सकें।

———

मेरा अस्तित्व

शाब्दिक अर्थ में मेरा जीवन कोई जीवन नहीं कहा जा सकता। अगर मैं उसे केवल 'होने' की एक अवस्था कहूँ, तो उसे 'शाश्वत अस्तित्व' मान सकते हैं। मगर यदि वह उससे भी परे की अवस्था है तो उसे आप चाहे जिस नाम से पुकार सकते हैं। यदि वह ऐसा है तो मेरी चेतना को तभी जागृत किया जा सकता है जब उसे झटका दिया जाय। परन्तु संभवतः कोई भी वह झटका देने में समर्थ नहीं है हालाँकि मेरा विश्वास है कि समय आने पर इसका विकास अवश्य होगा। यह क्षमता अन्तर्दशा में शोषण पैदा करने से प्राप्त हो सकती है या अपने 'स्व' की अधिकतम सीमा तक निषेध करने से, जैसे कि विन्यास-कारी के हाथ में निर्जीव वस्तु। इस हालत की शुरुआत यह मानकर चलने से होती है कि हर वस्तु जो मालिक के पास से आ रही है पसन्द है और बिल्कुल ठीक है। पर यहाँ तक भौतिकता है। इससे वह चीज आ जाती है जिस पर विश्वास का भावी भवन बनाना है। कुछ नीचे स्तर पर यह एक भौंडी शकल में दिखाई पड़ती है जिसके पीछे अपनी बड़ाई की भावना हो। वैसे यह भी कोई बुरी चीज नहीं है, क्योंकि बिल्कुल नहीं से कुछ तो अच्छा ही है। जब यह भावना भी अपनी सजग जानकारी खोकर दृढ़ बन जाती है, तो वहीं से वास्तविक श्रद्धा

प्रारम्भ होती है। इस प्रकार की श्रद्धा जम जाने के बाद अभ्यासी के कदम ठीक गुरुदेव के कदमों पर पड़ने लगते हैं, और जो कुछ भी उनके पास है वह सारा उसमें उतरने लगता है। यह एक बहुत विरल अवस्था है, और बहुत कम लोग इसे प्राप्त कर पाते हैं। पर इसका मतलब यह नहीं कि लोग इसके लिए मात्र इसी कारण से प्रयत्न करना ही छोड़ दें। अधिकांश लोगों की प्रगति उनके 'स्व', कुटुम्ब तथा समाज आदि से सम्बन्धित विचारों में फँसे होने के कारण रुकी रहती है। वे लोग कार्य की अनेक योजनाओं पर योजनायें बनाते चले जाते हैं, पर मन की स्थिति में परिवर्तन या सुधार लाने की कभी परवाह नहीं करते। क्या यह उनके महत्तम हित की बात न होगी कि उनका ध्यान इस ओर आकर्षित किया जाय ? दूसरों की भलाई का काम करना निःसंदेह अच्छी चीज है, पर उसके पहले स्वयं अपनी नैतिक उन्नति का प्रयत्न करना और भी अधिक अच्छा है। ऐसा करने से मानसिक सन्तुलन स्थापित हो जायेगा जिससे सारे कामों में अत्यधिक सहायता मिल सकेगी। इसे परमेश्वर की एक सबसे बड़ी देन समझा जा सकता है। ईश्वरीय कृपा उसकी ही ओर प्रवाहित है जो अपने को इसका वास्तविक पात्र बनाता है। इसलिए यह अत्यधिक महत्वपूर्ण है कि व्यक्ति विकास का जागरूक प्रयत्न करे और हृदय में अन्तिम प्राप्तव्य की सजीव चेतना बनाये रखे।

दूसरा प्रश्न यह उठता है कि साधक किस प्रकार का व्यक्ति

हो। वह वही है जिसने दुनिया के आकर्षणों से मुँह फेर लिया है, जो केवल एक ही उद्देश्य से प्रेरित है और जो हर घड़ी केवल वही सोचता है जिससे लक्ष्य प्राप्ति में सहायता मिले। ऐसे साधक को उद्देश्य की सिद्धि करवाने वाला योग्य गुरु मिले बिना नहीं रह सकता। ऐसा साधक अनर्गल विचारों के बहाव में गलत राह की ओर नहीं जा सकता। वह तो सही मार्ग पर जमा हुआ अपनी साधना में स्थिर रहता है। सदैव तीव्र लगन उसे प्रेरित करती है, और वह सदैव अपनी प्रगति को तीव्र करने के श्रेष्ठतर मार्ग ढूँढ़ता रहता है। उसके स्वयं के अन्तर की ज्योति मार्ग प्रशस्त करने में उसकी बड़ी सहायता करती है। यही सफलता की वह कुन्जी है जिस पर ऋषियों ने बहुत बल दिया। संक्षेप में, निश्चित सफलता के लिए आवश्यक है केवल तीव्र लगन, ठीक उपाय और निष्ठापूर्ण प्रयत्न।

एक अभ्यासी के लिए निषेध या उससे भी आगे पहुँचना कैसे सम्भव हो सकता है? सर्वप्रथम तो ऐसे सद्गुरु की कृपा हो जिसने स्वयं वह स्थिति प्राप्त कर ली हो। परन्तु उसके लिए अभ्यासी को अपने भीतर इतना तीव्र प्रेम और भक्ति पैदा करनी चाहिए जो सद्गुरु को कृपा बरसाने के लिए अभिप्रेरित कर सके।

निषेध की प्राप्ति के लिए सबसे महत्वपूर्ण और आवश्यक वस्तु है तीव्र लगन की वृद्धि, जो बढ़ते-बढ़ते अधीरतापूर्ण बेचैनी

का रूप ले ले। साथ ही सच्चे प्रेम और भक्ति की भावना जुड़ी हुई हो। जब हृदय में प्रेम भरा होता है तब अधीरता तो अपने आप आ जायगी। न्यूनाधिक परिमाण का इस सम्बन्ध में विशेष महत्व नहीं है, क्योंकि जैसे समय बीतेगा वह अपने आप बढ़ती ही जायेगी। अब उनके बारे में क्या कहा जाय जो एक भी कड़ा शब्द या उलहना कहते ही चिढ़ जाते हैं। इससे साफ प्रकट होता है कि वे अपनी अहं भावना के फन्दे से छूटना नहीं चाहते। या फिर शायद वे ऐसा सोचते हों कि उन्हें सही राह पर लगाना और ऊँची पहुँच तक उठाना इत्यादि सब उनके प्रति मेरे कर्तव्य का एक भाग है। कुछ सीमा तक यह बात हो सकती है, पर उस समय उन्हें यह सोचना चाहिए कि इसके लिए अपने को लायक तो उन्हीं को बनाना है। मुझे आप सबकी चिन्ता रहती है, पर वहीं तक, जो मेरे आवश्यक कर्तव्यों के क्षेत्र में पड़ता हो। मैं हर आदमी को अहं खो देने की कोशिश करने के लिए प्रेरित करता हूँ, पर वे उसके प्रारम्भिक उपायों पर भी दृष्टि डालना नहीं चाहते, और मुझे यह सब चला लेना पड़ता है। मैं इसके बारे में बहुत बचा-बचा कर बोलता हूँ, ताकि किसी को बुरा न लग जाय।

मैं दावे के साथ कहता हूँ कि केवल ईश्वर ही निषेध की स्थिति और उसके आगे सभी स्तरों को प्रदान करने वाला है। पर जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मुझे तो सब कुछ एक मात्र मेरे प्यारे गुरुदेव से ही मिला।

अवश्य ही मैं ईश्वर का भी इसलिए कृतज्ञ हूँ कि उसने मेरी वृत्तियों को उनकी ओर मोड़ दिया । गुरुदेव या ईश्वर, दोनों की कृपा प्राप्त करने का रास्ता एक ही है । इस रास्ते से मैं ईश्वर के प्रत्यक्ष प्रेम तक पहुँच गया, जो जीवन के सर्वोत्तम वरदानों में एक है । हालांकि यह उपाय बहुत अनमोल और प्रभावकारी है, पर इसका उपयोग करने वाले बहुत कम निकले हैं । अपनी लगन को तेज करने के साथ-साथ अभ्यासी को अपने गुरुदेव का कम से कम इस सीमा तक आज्ञाकारी तो होना चाहिए, जितना पाठशाला का विद्यार्थी अपने अध्यापक के प्रति होता है और यह उसके कर्तव्य का एक अत्यावश्यक अंग है । इससे गुरु को अपने लिए कुछ नहीं मिलता, पर अभ्यासी का निश्चित लाभ होता है और उसकी क्षमता बढ़ जाती है । वास्तविक गुरु प्रसिद्धि या सम्मान की कभी लालसा नहीं करता । कुछ संतों के तो यहाँ तक दृष्टान्त हैं कि अपने बाहरी बर्ताव में उन्होंने ऐसी चीजें अपनायीं कि जो उनकी स्थिति के लायक नहीं थीं । इनसे उन्होंने जन साधारण में जानबूझ कर बदनामी ली । कबीर जी के विषय में एक ऐसी ही घटना सुनने में आती है जिससे उन्हें अपने झूठे चेलों से छुटकारा पाने में मदद मिली ।

मैं चाहता हूँ कि मेरे जीते जी आप सब लोग पूर्ण निषेध की या उससे भी आगे की उच्चतम पहुँच प्राप्त कर लें । सहज-मार्ग की अत्युच्च साधना पद्धति अनुसरण करने वाले के लिए

यह कोई बहुत कठिन बात नहीं है। मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि मेरे ईश्वर तुल्य समर्थ गुरुदेव की कृपा से चलने वाली इस संस्था के अलावा और कहीं भी ऐसा पटु आध्यात्मिक प्रशिक्षण नहीं मिल सकता। साथ ही यह निश्चित है कि ईश्वरत्व के इस प्रशस्त राज-पथ पर चलने वाले भी हर युग और काल में बहुत ही कम रहे हैं। जिनके भाग्य में मुक्ति लाभ का लेख है वे ही ललक और उत्साह के साथ इस ओर आकर्षित होते हैं।

आज के युग में मुक्ति की इच्छा रखने वाले सच्चे साधक बहुत कम मिलते हैं। सांसारिक धन ऐश्वर्य के सुखद आकर्षण की तुलना में ऐसे लक्ष्य को लोग नगण्य मानते हैं। भटकते साधु-सन्यासियों द्वारा दिये गलत प्रलोभनों के झूठे और भ्रामक विचारों से हमारी विचार शक्ति और भी ढँक गई है जिससे लोग भौतिकता भरे विचारों एवं ठोस रूपों तथा अभ्यासों तक गिर चुके हैं।

लोग इनमें आकंठ डूबे हुए हैं। इस स्थिति से बाहर निकल-कर सही रास्ते की ओर मुड़ने का प्रयत्न करना उनकी क्षमता के बाहर है। इससे कहीं अच्छा तो यह होता कि वे कुछ न किये होते ताकि अवसर आने पर किसी वास्तविक सद्गुरु को अपने आपको समर्पित कर सकते। भोंडे ढंग से बनायी हुई मेज कुर्सी से तो कोरा लकड़ी का लट्ठा अच्छा, क्योंकि उस मेज

कुर्सी को सही मनपसन्द आकार में परिवर्तित करना असम्भव है। इस दिशा में पतन अपनी पूर्ण सीमा तक पहुँच चुका है। यहाँ तक कि बिल्कुल अनीश्वरीय चीजों और तौर तरीकों को लोग ईश्वरीय और पवित्र समझने लगे हैं। प्रकृति की कड़ी दृष्टि पूरी शक्ति के साथ अब इस ओर मुड़ गई है और निकट भविष्य में जो होने वाला है उसकी सम्भवतः लोगों को कल्पना तक न हो सकेगी। यह एक नियम है कि प्रकृति जिसे काल की आवश्यकतानुसार काम करने की शक्ति दे चुकी है उसके काम में वह कभी हस्तक्षेप नहीं करती। इस सिलसिले में जो भी काम मेरे हिस्से में आया है वह ईश्वर की पूर्ण करुणामयी कृपा से मुलायम है, क्योंकि मैं पूर्णतया अपने गुरुदेव की इच्छा और आज्ञा के अधीन हूँ। इसलिए अब इस बारे में केवल गुरुदेव की आज्ञा की राह देखी जा रही है।

एक अड़चन मेरे सामने और भी है। मेरा अधिकांश समय आप सबका काम करने में ही बीत जाता है। इसलिए सार्वजनीन ईश्वरीय कार्य करने के लिए मेरे पास पर्याप्त समय नहीं बचता। मुझे इस तरह अनावश्यक रूप से व्यस्त रखने वाले कौन हैं ? उनमें अधिकांश ऐसे लोग हैं जिनमें ईश्वर प्राप्ति के लिए सच्चे रूप में जरा सी भी लगन नहीं है। अगर वे किसी तरह ठीक तौर पर आज्ञाकारी बनने की कोशिश करें तो मेरा बहुत सा वक्त बच सकता है।

मैं जानता हूँ कि वे इसे पाना तो चाहते हैं, पर उसकी प्राप्ति

के लिए प्रेम और लगन के साथ प्रयत्न बिल्कुल नहीं करना चाहते। वैसे मैं इतने पर भी कोई बुरा नहीं मानता क्योंकि मैं अपने को इस काम के लिए नियुक्त किया हुआ मानता हूँ। अगर वे मेरी सेवाओं का ख्याल करके भी मुझ पर दया करें तो मुझे दूसरे कामों की ओर लगाने के लिए कुछ समय बचाने का मौका मिल सकता है। अभ्यासी को जैसा बनना चाहिए, अगर वह स्वयं अपने आपको वैसा बनाले तो मुझसे आवश्यक वस्तु तो अपने आप खींचना शुरू कर देगा।

पूर्ण निषेध की प्राप्ति का तात्पर्य है अन्तिम सीमा तक बिलकुल खाली हो जाना। हालाँकि सम्पूर्णतया रिक्त हो जाना तो किसी भी हालत में सम्भव नहीं। पर निषेध की भी विस्मृत अवस्था को पूर्णनिषेध मान सकते हैं। यह अतीव शक्तिशाली होती है। क्योंकि महान अवतारों को भी यह प्राप्त नहीं होती है। इस प्रकार की शक्ति को चुनौती ब्रह्मा, विष्णु, महेश जैसे देवता तक नहीं दे सकते। हमारी सहज-मार्ग पद्धति में ऐसा आम तौर पर होता है। आरम्भ से ही अभ्यासी धीरे-धीरे रिक्तता की ओर बढ़ने लगता है पर उसके लिए एक उपयुक्त पथ प्रदर्शक की नितांत आवश्यकता है।

यह निश्चित है कि उच्चतम पहुँच का व्यक्ति पूर्णतया ईश्वरीय इच्छा के अधीन रहता है। उसके गुरु के माध्यम से दैवी इच्छा उसके भीतर इस सीमा तक काम करती है कि एक पल भर भी

वह उससे अलग नहीं रह सकता। दूसरे शब्दों में वह पूर्णतया अपने सद्गुरु की देख-रेख में रहता है। अतः वही व्यक्ति सम्भवतः उस उच्चतम पहुँच का अधिकारी हो सकता है जो अपने गुरुदेव को पूर्ण आत्म समर्पण कर सकता है। परन्तु यह भी उस अनन्त या सीमा रहित स्थिति का प्रारम्भ मात्र होता है जिसमें आगे चल कर प्रवेश करना है। संक्षेप में इसके आगे और कहाँ तक जाना है उसका निर्धारण किसी तरह नहीं किया जा सकता।

शून्यता की स्थिति प्राप्त कर लेने के बाद भी बहुत सी मंजिलें तय करनी शेष रह जाती हैं, जिन्हें तय करने के लिए लाखों वर्ष भी कम पड़े। इसका अन्त क्या है, और कहाँ है, यह ठीक-ठीक तय करना बड़ा कठिन है। लोग मेरे इस कथन को मानने के लिए तैयार नहीं होंगे। वे कह सकते हैं, कि अगर मैं अनस्तित्व को ही असली अस्तित्व बताता हूँ तो वह सारा व्यर्थ या अमान्य ही होगा। कुछ सीमा तक उनका कहना युक्ति-संगत भी हो सकता है क्योंकि उसमें, जिसमें अस्तित्व कायम है, अनस्तित्व का विचार नहीं आ सकता है। वास्तव में वह अनस्तित्व के एक धुँधले प्रतिबिम्बमात्र का द्योतक है। सच तो यह है कि अनस्तित्व की हालत में रहने वाले को यदि उस स्थिति का कोई प्रतिबिम्ब न ग्रहण करता हो, तो उसे शून्यता की हालत की पूर्णता कह सकते हैं। परन्तु वह महानतम सन्तों की समझ के भी बाहर हो सकता है।

— — —

ज्योति अब भी प्रज्ज्वलित है

संसार में अनेक सन्त महात्मा और आचार्य हो गये हैं जिन्होंने जनसमुदाय को ऊपर उठाने के लिए कुछ न कुछ प्रयत्न किये। उन्होंने सर्वसाधारण के बीच प्रकाश फैलाया, पर वे सब किसी समय में आसपास के लोगों को प्रकाश देने के लिए जलाई हुई मोमबत्तियों की तरह थे। उन्होंने लोगों का भला किया जिससे उनकी आध्यात्मिक अवस्था सुधरी। पर सारे संसार को एक ही समय प्रकाशित करने वाली दिव्य-ज्योति का प्रज्वलित होना केवल ईश्वर की आज्ञा से बहुत विरल अवसरों पर होता है।

वह ज्योति हमारे बीच अवतरित हो चुकी है और चारों दिशायें उसके प्रकाश से प्रभामंडित हैं। पर बहुत कम लोग उसके लिए उत्सुक दिखाई पड़ते हैं। चारों ओर से बढ़ते हुए घनघोर अन्धकार ने दुनिया को इतने घने रूप से आच्छादित कर रखा है कि दिव्य ज्योति की टिमटिमाहट अब तक उनकी दृष्टि के बाहर ही है। यह प्रकृति की स्वाभाविक घटना है जो दुनिया के अस्तित्व के दौरान कई बार घटित हो चुकी है। जब जब बुराई उच्चतम शिखर तक पहुँच जाती है, तब ऐसी कोई दिव्य आत्मा संसार में अवतरित होती है, ताकि अन्धकार के बादलों को बिखरा कर सर्वत्र प्रकाश फैलाया जा सके।

ज्योति तो कब की प्रज्ज्वलित हो चुकी है, परन्तु उसको प्राप्त

करके लाभ उठाने के लिए श्रद्धा भरे हृदय की आवश्यकता है। क्या ऐसा अवसर भविष्य में बार-बार आयेगा ? क्या ऐसी विभूति दुनिया में बार-बार आयेगी ? क्या अब तक ऐसे कार्य के लिए अवतरित होने वाली किसी भी विगत विभूति से आप इसकी तुलना कर सकते हैं ? क्या ऐसा कोई कभी अवतार का रूप भी लेकर आया था ? नहीं, नहीं, कदापि नहीं। हर ऐसे व्यक्ति की क्षमता और सामर्थ्य उसके समय में वर्तमान परिस्थितियों के अनुसार अलग-अलग थी। अब का अवसर विरलतम है, क्योंकि ईश्वर की इच्छा ऐसी ही है। प्रकृति के काम के लिए अवतरित हुई वर्तमान महान विभूति शक्ति की दृष्टि से तथा सौंपे हुए कार्य भार के विस्तार से पूर्ववर्ती सभी विभूतियों से कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी है। आज की दुनिया में ऐसे व्यक्तित्व की अत्यन्त आवश्यकता है। यह प्रकृति की माँग थी जिसे पूरी करने के लिए उसका उद्‌भव हुआ है। फिर भी उससे पूरा-पूरा लाभ उठाने को आगे आने वाले बहुत ही कम दीख पड़ते हैं, हालाँकि वह स्वयं आप सब को अपनी ओर से ऊँची स्तरों तक उठाने को हर घड़ी तत्पर है। जो भी हो ईश्वर की इच्छा के मुताबिक ही हो। यह एक आश्चर्य जनक घोषणा हो सकती है। भूतकाल में प्रख्यात जितने भी सन्त और ऋषि हो गये हैं, उनमें से उच्चतम ऐसे एक को अपना कह सकने का गौरव केवल मुझे ही प्राप्त है। इसका थोड़ा बहुत श्रेय मुझे भी मिल सकता है।

आज वह समय आ गया है जब आप सब मिलकर इस मौके का पूरा-पूरा लाभ उठालें। प्रकृति बाहें पसार कर आपको अपनी गोद में ले लेने को तैयार खड़ी है। दैवी कृपा का स्रोत पूरे वेग से बह रहा है। आज का सा अवसर शायद हजारों वर्षों तक दुबारा लौट कर नहीं आयेगा। जो इस बार चूक जायेंगे उन्हें युगों-युगों तक ऐसा अवसर नहीं मिलेगा, जब तक दूसरी महान विभूति का इस दुनिया में आगमन का समय न आये। हो सकता है तब फिर मुक्ति या आत्म साक्षात्कार आसानी से मिल सके। पर तब भी वह आज जैसी सरलता से नहीं मिलेगी, क्योंकि उस समय केवल निर्माण का कार्य चलेगा, न कि विनाश का। आज थोड़े से त्याग से भी बहुत बड़े काम सिद्ध हो सकते हैं। ईश्वरीय धारा का प्रवाह प्रारम्भ हो चुका है। मालिक करें सब कम से कम इतना त्याग कर सकें जो उन्हें अनन्त सागर के तट तक पहुँचा सके, जहाँ वे शीतल जीवन-दायक दिव्य पवन में साँस ले सकें।

आज की दुखी दुनिया में यह सब उस दिव्य विभूति की उपस्थिति की असीम कृपा का फल है। क्या आप आशा करते हैं कि निकट भविष्य में इन सब की पुनरावृत्ति होगी ? आज उसकी एक दृष्टि से जितनी आसानी से उच्चतम स्तर तक पहुँचना सम्भव है, क्या फिर कभी वह सम्भव होगा ? यह तो आपके बड़े भारी सौभाग्य की बात है कि प्रकृति के नियत किये हुए अपने मुख्य कार्य के साथ-साथ वह आपकी आध्यात्मिक शिक्षा में भी लगा हुआ है। जो इन लाभदायी चिन्हों को नहीं

समझ रहे हैं वे इस नश्वर दुनिया से उनके चले जाने के बाद अपनी हानि पर पछतायेंगे।

जहाँ तक मेरा सवाल है मैं तो अपने विदीर्ण हृदय को लिए अनन्त-सागर की गहराई में डूब चुका हूँ। मुझे पता ही नहीं कि कहाँ जाऊँ और क्या करूँ ! ईश्वर की जहाँ इच्छा हो मुझे ले जाय ! हर चीज केवल उसी पर निर्भर है। आम तौर पर, डूबा हुआ आदमी कम से कम एक बार फिर ऊपर आता है। वैसे ही मैं भी आया। पर नीरव निष्पन्द लहरें मुझे फिर, न जाने कहाँ बहा ले गईं। पर अब तो सिर्फ आगे, और आगे, बहा चला जा रहा हूँ। कहाँ छोर है इसका पता ही नहीं।

मैं बिना किसी हिचक के आपके सामने यह सारा रहस्य खोले जा रहा हूँ कि आप में भी वह पागलपन की आग जल उठे जिसमें मैं जल रहा हूँ। पर जिसे ईश्वर स्वयं ऊपर खींचता है वही इस राह में सफलता पा सकता है। मेरे लिए सबसे बड़े दुःख की बात यह है कि सब कोई मेरी कहानी सुनकर बड़ी दाद देते हैं, पर इसके बाद उन्हें स्वयं क्या करना चाहिए यह सोचने को बिल्कुल तैयार नहीं होते। फिर भी मैं तो अपनी भरसक शक्ति से उनकी सहायता करने को सदा तैयार हूँ।

हम सबको एक साथ मिल कर आज प्राप्त हुए इस स्वर्ण अवसर का पूरा लाभ उठाना चाहिए जो बड़े सौभाग्य से मिला है। हालाँकि पूर्ण सफलता उसी को मिलेगी जिसे ईश्वर ने

उसके लिए नियत किया है। फिर भी किया हुआ परिश्रम कभी बेकार नहीं जाता। उसके भी अपने फल मिलते हैं, जिससे ईश्वरीय धारा की गति में वेग आ जाता है। किन्तु लगातार परिश्रम करते रहना बहुतों के लिए मुश्किल होता है। इसका कारण केवल रुचि और लगन की कमी है। कुछ लोग तो अपने आप को एक प्रकार का प्रदर्शन कक्ष बनाये रखते हैं। कुछ और हैं जिन्होंने अपने दिल को एक सराय में परिवर्तित कर रखा है जिसमें हर बटोही प्रवेश पा जाते हैं। हर व्यक्ति जानता है कि इस शरीर को एक दिन जरूर छोड़ना है; फिर भी वह दूसरी अत्यन्त आवश्यक चीजों को छोड़कर इसी से मर्यादित सीमा से भी अधिक लगाव रखे हुए है। मेरा कहना यह नहीं है कि शरीर की ओर बिलकुल ध्यान न दें, क्योंकि ऐसा करना भी एक बड़ा पाप है। मेरे कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि शरीर की देखरेख और भरण-पोषण उसी सीमा तक रखे जितना सही और आवश्यक है, अर्थात जिससे ईश्वर के प्रति, अपने स्वयं के प्रति तथा और सबके प्रति अपना कर्तव्य ठीक से निभा सके।

हर आदमी को अपने अन्त के लिए तैयार रहना चाहिए। इसका मतलब है कि जल्दी से जल्दी आध्यात्मिक उन्नति के उच्चतम शिखर तक पहुँच जाय; ताकि, अन्तिम घड़ी आ जाने पर पछतावा न हो। भक्ति और सतत स्मरण ही इसके केवल अचूक उपाय हैं। अगर कोई पूर्ण विश्वास और श्रद्धा के साथ अपने आप को उसके हवाले कर दे, और अपने ध्यान को वास्त-

विक अर्थ में उसकी ओर मोड़ दे, तो ईश्वर प्राप्ति जरा भी मुश्किल नहीं है। हर चीज को ईश्वर की आज्ञा मानकर अपने सांसारिक कर्तव्यों को अच्छी तरह निभाने से यह काम बड़ी आसानी से सिद्ध हो सकता है।

अध्यात्म पथ के पथिक के लिए 'स्व' का विलय ही एक मात्र उपाय है। उसे बस इसी में दृढ़ निश्चय से लग जाना है। प्रेम और भक्ति वास्तव में इसके मुख्य चिह्न होते हैं। अपने अहम् को खोने पर व्यक्ति के शाश्वत अस्तित्व का प्रारम्भ होता है जो ही प्राप्त करने लायक वास्तविक जीवन तथा मानव जीवन का एक मात्र उद्देश्य है। यह सद्गुरु की जीवितावस्था में ही अधिक सरलता से प्राप्त हो सकता है, क्योंकि उनके जीवनकाल में ही उनकी शक्ति का प्रवाह निरन्तर प्रवाहित रहता है। इसके बाद तो, जैसे कहावत है, बहुत कम परवाने ऐसे निकलेंगे जो बुझी शमा पर अपने को जला सकें।

मेरे पूज्य गुरुदेव के जीवन काल में बहुत से भक्त उनके चारों ओर दीपशिखा पर पतिंगों की तरह मँडराते रहते थे। कारण यह था कि लौ जल रही थी। वे मार्ग पर प्रगति करते बढ़ते रहे, पर उनके जाने के बाद परिस्थिति बदल गई। उनमें से बहुत कम ऐसे थे जो बुझी हुई लौ पर भी अपने आन्तरिक ताप से अपने को भस्म कर सकते। यह केवल उसी एक के लिए सम्भव हो सका जिसने अपने भीतर इतना प्रकाश शोषित कर लिया था कि

वह प्रदीप्त रहे और इसी में इसका पूरा अस्तित्व खप जावे। सबको ऐसे का अनुसरण करना चाहिए, ताकि उनमें आन्तरिक ताप की कमी न रहे जिसमें वे अपने को बाद में खपा सकें।

मैंने आज तक कोई ऐसा नहीं देखा जो आनन्द के सागर तक पहुँचने का दृढ़ निश्चय करके भी बीच ही में रह गया हो। जब उपयुक्त साधन आपके पास है, तो न सफल होने का सवाल ही नहीं उठता। मैंने देखा है कि लोग हृदय में ज्योति देखने के ही पीछे पड़े रहते हैं पर इससे कोई मतलब नहीं सरता क्योंकि वह उस वास्तविक आनन्द जिसे वह चाहता है की अपेक्षा कहीं अधिक स्थूल है। अभ्यासी को ज्योति देखने की कोशिश नहीं करनी है। उसे तो केवल यह कल्पना मात्र करनी चाहिए कि ज्योति वहाँ उपस्थित है। मुझे तो वह इतनी घृणाजनक (Repelling) लगती है कि यथासम्भव मैं उससे दूर ही रहने की कोशिश करता हूँ। ज्योति सत्य की परछाँई मात्र है, न कि स्वयं सत्य। हमें तो वास्तविक सत्य तक पहुँचना है, जिसका यह ज्योति भौतिक दृश्य रूप है। अभ्यास के दौरान हमें इसका अनुभव होता है, पर हम उसे अनावश्यक समझकर उसकी ओर ध्यान नहीं देते। वास्तव में हमें तो वहाँ पहुँचना है जहाँ न प्रकाश है, और न अँधेरा।

मेरी तीव्र इच्छा है कि मैं हर एक को केन्द्र के अधिक से अधिक निकट खींच ले जाऊँ, उसका केन्द्रीय क्षेत्र में तैरना आरम्भ करा दूँ, वह बिन्दु खोल दूँ जिससे उसको प्रकृति पर विजय प्राप्त हो, ताकि उसके साथ काम किया जा सके। पर

यह पूर्णरूप से एक ईश्वरीय देन है, और उन्हीं के भाग्य में नियत है जिन्हें देने की "उसकी" मर्जी हो। मनुष्य शरीर के कण-कण में असीम शक्ति भरी पड़ी है और सारा ब्रह्माण्ड उसके साथ निकट सूत्रों से बँधा है। मेरुदंड का हर एक बिन्दु असीम शक्ति का भंडार है। पर अब तक इस ओर ध्यान नहीं दिया गया। लोग केवल 'कुंडलिनी-कुंडलिनी' चिल्लाते हैं और उसको जागृत करने के प्रयत्नों में पागलों की तरह भटकते फिरते हैं। मस्तिष्क के विभिन्न कोष्टकों के बीज की संरचना में प्रयुक्त प्रत्येक कण की अपनी शक्ति होती है जो कुण्डलिनी की शक्ति से कहीं अधिक होती है। परन्तु आजतक किसी ने मानव जाति के कल्याण के लिए उसके उपयोग का प्रयत्न नहीं किया। मेरा दृष्टिकोण अधिकांश 'ज्ञानी' लोगों को स्वीकार नहीं होगा और अगर मैं प्रत्यक्ष प्रयोगात्मक रूप में उन्हें दिखा भी दूँ तो उनमें उसे महसूस करने की सुग्राहकता नहीं होगी। मगर एक समय आयेगा, और आकर रहेगा जब लोग उसे समझ सकेंगे और उसकी अनुभूति भी कर सकेंगे। इस उच्चतम अवस्था को बिना कोई मूल्य दिये प्राप्त करने के लिए अपने भीतर गहरी लगन पैदा करें। मगर इसके बहुत कम ग्राहक नजर आते हैं। हो सकता है इसका कारण कुछ मेरी अपनी ही कमियाँ हों। पर अगर इसे लेने के लिए कोई भी सामने न आया तो मुझे उसे खुले आम रास्ते पर फेंक कर चले जाना पड़ेगा, जहाँ से कोई उठाने की क्षमता रखने वाला इसे उठा ले जाय। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मेरे भीतर इस भावना की बाढ़ सी आ रही है, पर मैं उसे जी जान से रोके हुए हूँ कि कहीं वह अपने आप न बह निकले। यह बहाव प्रकृति की केवल एक ग्रन्थि को स्पर्श करते ही बाहर निकल पड़ सकता है, पर अभी ईश्वरीय आज्ञा वैसी नहीं है।

———

विपदाएँ

संसार दुःख-तकलीफों से भरा हुआ है। कोई व्याधि के मारे कराह रहा है, कोई अपने प्रिय जनों की मृत्यु पर रो रहा है, दूसरे निर्धनता, बीमारी और अन्य विपत्तियों की चिन्ता से त्रस्त हैं। बहुत कम ऐसे हैं जिन पर भाग्य की कृपा दीख पड़ती है, पर उनकी भी अपनी तकलीफें और चिन्ताएँ हैं। निर्धन को चिन्ता है कि वह धनी नहीं हुआ, धनी को चिन्ता है कि वह और अधिक धनी न हुआ। या बड़े धनी को चिन्ता है कि वह सबसे बड़ा धनी न हुआ! थोड़े में, इसका कहीं अन्त ही नहीं है। प्रकृति की यह निश्चित कार्यविधि है। जिसने जन्म लिया वह खलबली और व्यतिक्रम में है क्योंकि उसके अस्तित्व में आने के क्षण के साथ ही विपरीतताएँ भी अपने-आप सामने आ गईं। अब जो अनावश्यक सीमा तक उनमें उलझा पड़ा है, उसके फंदों की जकड़न भी उतनी ही मजबूत है। आप अगर उसे बाहर निकलने को कहें तो वह उसी की तरह रोयेगा जो खुद पेड़ से लिपटा हुआ है और कहता है कि पेड़ उसे छोड़ नहीं रहा है। यक्ष के प्रश्न के उत्तर में युधिष्ठिर ने बिल्कुल सच कहा था कि दुनिया में औरों को मरते हुए देखकर भी लोगों के मन में यह विचार नहीं आता कि उन्हें भी जल्द ही मरना है। यही दुनिया का सबसे बड़ा आश्चर्य है। इसकी जगह मेरा

जवाब यह होता कि लोग अपनी गड़बड़ी को देखते हुए भी ऐसे तकिये का सहारा लिये पड़े हैं जो स्वयं असन्तुलित है। मेरी दृष्टि में तो सम्भवतः यही सबसे बड़ा आश्चर्य होगा। राजा भर्तृहरि के पास विश्राम के लिए सिर रखने को एक तकिया थी। जब उनके मन में भगवद्भावना जगी तब उन्होंने अनावश्यक समझ कर उसे भी त्याग दिया। तकिये का मतलब है 'सहारा'; अपना सब कुछ छोड़कर केवल दैवी सहारा या ईश्वर पर भरोसा करना। अगर यह चीज साधारण गृहस्थ की जिन्दगी बिताते हुए सम्भव हो सके, तो क्या यह सबसे महत्त्वपूर्ण नहीं है? अपने सांसारिक कर्त्तव्य करते हुए सदा ईश्वर के विचार में निमग्न रहना कैसे सम्भव हो सकता है। कोई कह सकता है कि दोनों चीजें एक-दूसरे के विपरीत होने से साथ-साथ नहीं चल सकतीं। परन्तु बात ऐसी नहीं है। अगर सच्चे हृदय से कोई साधन करे तो पूर्णतया सम्भव ही नहीं, आसानी से व्यवहार में लायी जा सकती है। समय बीतने पर उसमें ईश्वरीय बुद्धि जागृत हो जाती है और वह जीवन का हर कार्य उसी के द्वारा करने लगता है। मुझे तो नहीं लगता कि जो व्यक्ति गृहस्थी की जिम्मेदारी के काम करते हुए साक्षात्कार ये लिए बढ़ने के भरसक प्रयत्न करता है वह किसी भी प्रकार से घाटे में रहेगा। उलटे वह तो दोनों पंख फैलाकर अपने शाश्वत निवास की ओर ऊँची उड़ानें भरेगा।

जब से हम इस दुनिया में आये हैं कष्टों से कभी मुक्त नहीं हुए; और तब तक न होंगे जब तक हम अपने स्वधाम नहीं पहुँच जाते। भगवान राम और कृष्ण के सदृश अवतारी पुरुषों को भी, जब तक वे संसार में रहे, कष्ट भुगतना पड़ा। वास्तव में दुःख दर्द से छुटकारा पाना ही जीवन का मुख्य प्रयास है। महात्मा गाँधी ने एक बार कहा कि आजादी का रास्ता जेल में से होकर है। अगर इस दुनिया को एक कारागार मानलें तो आध्यात्मिक अर्थ में भी यह उक्ति बिलकुल ठीक बैठती है। अति निराशा की स्थिति में कभी कभी लोग जीवन का अंत चाहने लगते हैं। मेरे विचार से ऐसी परिस्थिति में ईश्वर से यह प्रार्थना करना अच्छा होगा कि वह मौत के सरीखी जिन्दगी दे दे।

कष्टों और विपत्तियों का भी जीवन में अपना एक स्थान है। हर आदमी को उनका अपना हिस्सा मिलता है। प्रख्यात ऋषि महात्माओं को भी अपना अपना भाग मिला था। अगर दुनिया में कष्ट न होते तो मनुष्य का विचार उसके उलटे पहलू पूर्ण शान्ति पर कभी न जाता। इस तरह मनुष्य की विपत्तियाँ ही उसे मुक्ति पाने के उपायों की ओर प्रेरित करती हैं। दूसरे शब्दों में वे उत्प्रेरक के रूप में कार्य करती हैं। हम जानते हैं कि कोयले को हीरे में परिवर्तित किया जा सकता है। इसका मतलब हुआ कि विन्यास का परिवर्तन वस्तुओं को नया रूप दे सकता है। विन्यास सही है तो एक वस्तु उपयोगी

और आनन्ददायी बन जाती है, और अगर गलत हो तो वही वस्तु दुखदायी और कुरूप बन जाती है। यही बात कष्टों के विषय में भी है। हमारी विवेक बुद्धि पर मन के दर-दर भटकाव की इतनी बुरी तरह छाया पड़ रही है कि हम जीवन के वास्तविक मूल्यों की ओर बिल्कुल अंधे हो गये हैं। वास्तव में जीवन की हर चीज हमारे अन्तिम हित के लिए ही बनी है। हमें सिर्फ यही सीखना है कि हम उनका सम्यक उपयोग किस प्रकार करें कि उन्हें हम अपने लाभ की बनालें। लेकिन दुर्भाग्य से हम मन की पथभ्रष्ट वृत्तियों के कारण सदैव गलत रास्ते पर ही चलते रहे हैं। हमें हर चीज का वह स्थूल रूप दिखाई पड़ता है जो हमारे मन की अधोमुखी वृत्तियों से ही मेल खाता है। हमारी दृष्टि में हर चीज दिन पर दिन घनी और स्थूलतर होती गई। दिल और दिमाग पर भी इसका असर पड़ने से उनमें भी वही खराबियाँ आनी शुरू हो गईं। परत पर परत जमती गई और वास्तविकता दृष्टि से ओझल हो गई। यह हालत चलती ही रहेगी, जब तक किसी दिन अचानक हृदय में वास्तविकता का झोंका घुस न पड़े और भीतर जागृति पैदा न कर दे। तब जाकर मनुष्य जीवन के असली मूल्यों को पुनः ठीक से समझने लगता है, और उसमें अपनी बिगड़ी हुई हालत को सुधारने की प्रेरणा आने लगती है।

जब से मनुष्य सर्वप्रथम देहधारी बना तभी से वह अपने असल तत्व की विरोधी चीजें भी साथ-साथ लेकर आया।

मतलब यह कि ठीक से रूप देने के लिए दो विरोधी तत्वों को साथ साथ गुम्फित करना पड़ा। उसने एक प्रकार के ऐसे विस्फोट का रूप लिया जैसा आग और पानी के सम्पर्क में आने से होता है। साथ में हवा का बहाव भी मिल गया और वह अन्दर ही अन्दर सुलगता रहा, जिससे विस्फोट की शक्ति और भी बढ़ गई। यह विस्फोट शक्ति के आत्मा के सम्पर्क में आने की क्रिया के अलावा और कुछ नहीं था जिससे तत्त्वों का प्रकट रूप बाहर व्यक्त होने लगा। इस प्रकार असलियत आँखों से ओझल हो गई। जरा सोचिये कि वस्तुओं के उलटे उपयोग से आखिरकार क्या नतीजा निकला। हमने इस पतन के प्रारम्भ का पता लगाने के लिए न तो उसके कारणों का विचार किया, और न इससे उत्पन्न असर का ही।

यह सब कार्य किस प्रकार हुए ? सृष्टि उत्पन्न करने की ईश्वरीय इच्छा अपने आपको प्रकट करने लगी। विविधता का विचार, जो एकता के विचार का विरोधी था, गतिमान हो उठा और धीरे धीरे प्रमुख बनने लगा। क्रियाशीलता जग गई। दोनों के मिलने से शक्ति बढ़ गई और क्रिया शुरू हो गई।

मनुष्य की आत्मा में चेतना विद्यमान थी। यह चेतना उस ईश्वरीय इच्छा का प्रत्यक्ष फल थी जिससे आखिरकार वस्तुओं का निर्माण हुआ। हमारी इच्छा का फल यह हुआ कि हमारी विचार-शक्ति का उपयोग करके हमने वह चीजें बनाईं, जिन्हें

हम साथ लाये थे। इस प्रकार हमारे चारों ओर जो कुछ था वह सब आत्मा के वास्तविक प्रकृति के विपरीत था। शान्ति आत्मा की विशेषता है, जबकि अशान्ति अर्थात् शान्ति का उल्टा शरीर की विशेषता है। पर हम स्वयं ही इस सब के करने वाले थे, और यह सब हमारा ही कार्य था। अब इन सब क्रियाओं एवं प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप जो विस्फोट हुआ वही विपत्तियों और कष्टों का रूप लेकर हमारे सामने आ गया। अगर किसी प्रकार हम उन्हें अपनी ओर से शक्ति देना बन्द कर दें, तो वे असिंचित पौधों की तरह सूख कर नष्ट होने लगेंगी। यह तभी सम्भव है जब हम अपने शरीर चेतना से जुड़े हुए विचार को आत्मा चेतनता की तरफ मोड़ दें। हमारे गलत कामों के कारण जिन वस्तुओं ने कष्टों और विपत्तियों का रूप ले लिया, वे अपने आप शक्तिहीन होकर नष्ट हो जायेंगी, अथवा उच्च स्तर की चेतना से अति प्रभावित हो जायेंगी, धीरे धीरे वे बिलकुल साफ हो जायेंगी और उनके विस्फोट भी बन्द हो जायेंगे। मनुष्य तब फिर से आत्मिक चेतना की हालत में आ जायेगा जो प्रारम्भ में ईश्वरीय इच्छा के प्रभाव के कारण सजीवित हुई थी।

हम पर उतरी हुई वस्तुओं में कोई खराबी नहीं थी। खराबी तो उनमें उन विशुद्ध चीजों के हमारे दुरुपयोग से घुस गई जिसने अन्त में कष्टों का रूप ले लिया। अब हमें उनकी दुरुस्ती की जरूरत है। मैं फिर से कहता हूँ कि बीमारी ही

हृदय में स्वास्थ्य का खयाल फिर से जगाती है। अब हम यह देखें कि कष्ट विपत्ति नाम की चीजें जो कि वास्तविकता की वास्तविक प्राकृतिक विरोधी हैं, कैसे प्रबल और शक्तिमान बन गईं। ये हमारे अधिकार में थीं। इसलिए इन्हें शक्ति हम से ही मिली जब कि वास्तविकता की चीजें ईश्वर के नियंत्रण में होने से, ईश्वर से शक्ति पाती रहीं। हम जितना ही इन कष्टों की ओर अधिक ध्यान देते हैं उतना ही हमारी विचार-शक्ति के बल से वे और मजबूत होती जाती हैं। कालान्तर में वे इतनी शक्तिशाली हो जाती हैं कि वे हमारी सब भावनाओं और आवेगों पर पूरी तौर से हावी हो जाती हैं। इसका एक मात्र उपाय है ईश्वर की ओर उन्मुख होना, जिसकी शक्ति सबसे बड़ी शक्ति है। तब ईश्वरीय शक्ति का प्रवाह हममें बहने लगेगा और सारी विपत्तियाँ बिल्कुल निष्प्रभावी हो जायेंगी। धीरे धीरे मनुष्य में वह स्थिति आने लगती है जिसमें वह अपने को कर्त्ता समझना बन्द कर देता है और जिसकी गीता में बड़ी प्रशंसा की गई है। इस स्थिति में आगे प्रगति करने पर संस्कार बनना बन्द हो जाते हैं, जिससे 'जीवन-मोक्ष' की स्थिति आ जाती है। सीधी चीज सीधे तरीके से ही प्राप्त हो सकती है। आमतौर पर विपत्तियों को आनन्द का उल्टा समझा जाता है पर वास्तव में यही हमारे हृदय में परम तत्व की चेतना जागृत करती है, जो शान्ति और प्रगति के पथ पर अग्रसर होने में हमारी सहायक होती हैं। हर व्यक्ति की अपनी स्वयं की

विपत्तियाँ होती हैं। उसी तरह मेरी भी अपनी थीं जिनके बारे में एक बार मैंने मेरे गुरुदेव को लिखा था। उनका निम्न-लिखित जवाब स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है :—

"चिन्ताओं में होना अच्छा है। घर आधीनता और सहन-शीलता का प्रशिक्षण केन्द्र है। जीवन में दिन-प्रति-दिन घट-नाओं को शान्ति से सहन करना ही उच्चतम कोटि की तपस्या और त्याग है। इसलिए मनुष्य को क्रोध या झुँझलाहट की जगह अपने में नम्रता और मृदुलता पैदा करने की कोशिश करनी चाहिए। मृदुलता से मेरा मतलब मन की ऐसी भावना से है कि दूसरे डांटें तो भी अपने को ही दोषी समझे, और उसके लिए जैसा व्यवहार मिले चुपचाप सहन कर ले। दूसरों के लिए पृथकत्व, एकान्त और सम्बन्धविच्छेद ही संतोष, सहन-शीलता और जीवन के फन्दों से मुक्त होने के रास्ते होने पर भी हमारे लिए तो परिवार वालों, मित्रों, समाज के लोगों के ताने और उलाहने सहन करना ही बड़ी से बड़ी तपस्या और त्याग है।"

एक दूसरी जगह उन्होंने अपने एक सत्संगी को लिखा :—
"जहाँ तक चिन्ता और विपत्तियों का प्रश्न है, मेरे भाग में भी थीं जो कदाचित अन्य किसी को स्तंभित कर देतीं। अक्सर भोजन के लिये मेरे पास कुछ न होता था। परिवार में पालन के लिए मेरे अनेक बच्चे और आश्रित थे। इसके अलावा कभी

कभी दूसरों की भी मदद करनी थी जिसे टाल नहीं सकता था। यह सारी जिम्मेदारी अकेले मुझी पर थी, और मुझे सारी व्यवस्था करके सभी आवश्यकताएँ जुटानी पड़ती थीं। और भी सुनिये—कभी-कभी पूरे घर में ओढ़ने के लिए एक ही अत्यन्त झिलंगी रजाई होती थी। पर मैं इस सारे को केवल दुर्भाग्य का विकसित होना मान लेता था, जो समय के साथ-साथ अपने आप बीत गया। पर अपने पूरे अस्तित्व में, रग-रग में फैली हुई असलियत की तुलना में मैं इन सारी चीजों को थोड़ा भी महत्व नहीं देता था। इसलिए मैं उन्हें ही मुक्ति की एक मात्र राह मान कर सदैव मुस्कराता रहा।"

अपनी तकलीफों पर हर घड़ी सोचते रहने से चिन्ताएँ बढ़ती हैं। उनमें हमारा लगाव अधिकाधिक बढ़ता जाता है, और हम उनके जाल में मज़बूती से फँस जाते हैं। इससे प्रगति में रोक लग जाती है और सफलता की आशा बहुत कम हो जाती है। कुछ पथभ्रांत गुरु विकल्प के तौर पर ऐसी स्थिति में घर-बार, कुटुम्ब-मित्र तथा समाज से सम्बन्ध तोड़ कर सांसारिक जिम्मेदारी से पीछा छुड़ाने का मार्ग बताते हैं। वास्तव में ऐसा करने पर भी उनकी कुछ विशेष चिन्ताएँ और उलझन तो चालू रहती ही हैं। इसलिए इसे प्रश्न का हल नहीं कह सकते। दूसरी ओर इससे झूठा गर्व अहं और पक्षपात आदि बड़ी बुराइयाँ पैदा होती हैं, जो आध्यात्मिक जीवन के लिए सबसे बुरे विष होते हैं।

संसार में चिन्ता से मुक्त कोई नहीं है। वास्तव में विप-त्तियों की उपस्थिति मनुष्य के अस्तित्व का सबसे बड़ा प्रमाण है। वास्तव में चिन्ताएँ उस असन्तुलित क्रिया का ही परिणाम है जिससे आरम्भ में मनुष्य का उद्भव हुआ। यह प्राकृतिक शक्तियों के पारस्परिक मिलन की प्रतिक्रिया थी जिससे विस्तारण और संकुचन होते रहे और परिणामस्वरूप एक पर एक परत जमती चली गई। अब अगर कोई यह सोच कर उन पर अपना पूरा ध्यान लगाये रखे कि इससे उनका असर कम हो जायगा, तो वह असम्भव है। एक जीवन ही नहीं, इस तरह करते-करते अनेक युग व्यर्थ बीत जायेंगे। उलटे अपने कर्मों से व्यक्ति और घनी उलझनें निर्माण करता चला जायेगा। सचमुच यही ईश्वर की हमको दी हुई शक्तियों का दुरुपयोग है। अगर हम शक्तियों के विस्तार और संकोच से उत्पन्न सीमाओं को दूर करने की ओर ही ध्यान दें, तो भी सत्य ही हमारा लक्ष्य सिद्ध हो जायगा। इसलिए हमें उस स्तर से आरम्भ करना चाहिए जहाँ से प्राकृतिक शक्तियाँ मनुष्य की चेतना को बढ़ाना शुरू करती हैं। लोगों के सामने कोई निश्चित लक्ष्य या उद्देश्य नहीं होता। इस कारण वे इस बात को महत्व नहीं देते और इसीलिए वे यह रास्ता स्वीकार करने में असमर्थ रहते हैं। धनुर्धर जब तक लक्ष्य पर अपना पूरा ध्यान केन्द्रित नहीं करेगा, तब तक वह कभी भी लक्ष्य को बेध नहीं सकेगा।

न कष्टों और विपत्तियों का मेरा निजी अनुभव भी मेरे सामने है। उस पर काफी कुछ सोचने के बाद मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि कष्ट और व्याधियाँ छिपे रूप में प्रकृति का वरदान हैं, जो संस्कारों के भोग से मुक्ति दिलाने में हमारी मदद करते हैं। जब बचे-खुचे संस्कारों का सफाया हो जाता है, और मन का आन्तरिक झुकाव इधर हो जाता है तो आध्यात्मिक प्रगति अबाध रूप से होती है। सांसारिक जीवन से सम्बन्धित दिन-प्रति-दिन की क्रिया-कलापों को छोड़ने की किसी को आवश्यकता नहीं है। केवल उनके साथ-साथ 'उस' की प्राप्ति के प्रयत्न भी जारी रखने होते हैं, जो हमारा अन्तिम लक्ष्य है। इतने सर्वाधिक महत्वपूर्ण मामले में भी लोग रस क्यों नहीं लेते इस पर मुझे आश्चर्य होता है। मैं देखता हूँ कुछ तो अपने में भक्ति की वृद्धि के लिए प्रार्थना में लगे रहते हैं, और इसके लिए बार-बार जन्म लेकर संसार में आना चाहते हैं। उनके भक्ति-भावना की तो मैं दाद देता हूँ, पर यह संसार में बार-बार आने वाला मसला मेरी समझ में बिल्कुल नहीं आता। मुझे इसमें न कोई बुद्धिमानी या प्रयोजन और न कोई उद्देश्य दिखाई पड़ता है। वास्तव में करना जो भी है वह है केवल ईश्वर को अपने आपको समर्पित कर देना। आरम्भ में यह भले कठिन लगे पर वास्तव में यह है सबसे आसान।

लोगों को शिकायत रहती है कि उन्हें पूजा या ध्यान के लिए समय नहीं मिलता। मैं समझता हूँ, और सभी अच्छी

तरह जानते हैं कि उन्हें अपनी बीमारी, चिन्ता, फिक्र और अन्य भौतिक जरूरतों के लिए हमेशा काफी समय मिल जाता है। कारण यही है कि उनकी दृष्टि में दैवी कर्तव्यों की अपेक्षा इन सबका अधिक महत्व है। सच तो यह है कि आदमी अपनी सांसारिक क्रिया-कलापों में थोड़ा भी अड़चन डाले बिना, हर क्षण अपने को ईश्वरीय विचार में व्यस्त रख सकता है। अगर कोई इसका अभ्यास करके ऐसी आदत डाल ले तो वह इतनी आसान और स्वाभाविक हो जाती है, कि वह इसे क्षण भर भी छोड़ना नहीं चाहेगा। मैं आप सबको एक बहुत ही लाभदायक संकेत देता हूँ। कोई भी काम शुरू करने से पहिले क्षण भर आप 'उसका' (ईश्वर) ध्यान करके इस तरह सोचिये कि 'वह' स्वयं इसे कर रहा है। यह सबसे सरल उपाय है। मैं चाहता हूँ कि आप सब पूरे दिल के साथ यह प्रयोग कर देखें।

हर हालत में तीव्र लगन बहुत जरूरी है, और उसके लिए ध्यान अत्यन्त आवश्यक है। अगर और दृढ़ निश्चय के साथ उस पर जम जाय तो उसकी समस्या हल होकर ही रहेगी। लगन की तीव्रता बढ़ाने का सबसे सरल उपाय यही है कि यदि वह मन में मौजूद न हो तो उसे नकली ढंग से ही लाने की कोशिश की जाय। कालान्तर में अनवरत अभ्यास से यही दिखावटी भावना सच्ची और असली बन जायगी।

आज के युग में मन की वृत्तियों की चंचलता असामान्य रूप से बढ़ गई है। किसी को साधनों की कमी चिन्तित किये है तो

दूसरों को बढ़ती हुई जरूरतें; तीसरे को स्वास्थ्य, आराम या कीर्ति के लिए बेचैनी है। मालदार व्यक्ति जिनके पास इच्छा पूर्ति के लगभग सब साधन मौजूद हैं, उन्हें भी किसी न किसी प्रकार की चिन्ता सता ही रही है। इस दुनिया में शायद ही ऐसा कोई हो जिसे शान्ति या चैन प्राप्त है। हर आदमी के सामने जरूरतों और इच्छाओं से उत्पन्न अपनी समस्याएँ हैं, जो उसके लिए कष्ट और मुसीबतों का निर्माण करती हैं। आदमी उनमें उलझा पड़ा रहता है और उसे निकलने की कोई राह नहीं मिलती। पर सबसे वीर वही है जो हर हालत और हर परिस्थिति में प्रसन्न रहे। महान ऋषियों ने सबसे ज्यादा पसंदगी गरीबी और कठिनाइयों को दी है। एक प्राचीन ऋषि ने तो ईश्वर से ऐसी प्रार्थना की कि सारे संसार के कष्ट उन्हीं को प्रदान कर दिये जायें। ऐसी महान आत्माएँ ही उच्चतम प्रगति कर सकती हैं और अन्त में शाश्वत आनन्द का अमर जीवन प्राप्त कर सकती हैं।

मनुष्य जितने विचार कर चुका या करता है, वे सब ब्रह्मांड मण्डल में तैयार रहते हैं, और ऊर्जा में परिवर्तित हो जाते हैं। कभी-कभी वे मनुष्य की क्षमता और स्वभाव के मुताबिक उसके हृदय से टकराकर उस पर अपना प्रतिबिम्ब डालते हैं। पर अगर वह उनकी ओर उदासीन बना रहे तो उनकी तीव्रता नष्ट हो जाती है, अगर हम उनकी ओर ध्यान न देने की आदत

डाल लें, तो उनका हम पर कोई असर नहीं पड़ेगा। एक साधारण सांसारिक व्यक्ति और किसी सन्त या महात्मा में केवल यही अन्तर है कि उनका मन और इन्द्रियाँ अच्छी तरह सन्तुलित अवस्था में, एवं पूरी तरह उनके वश में हैं। वे संसार के विभिन्न रंगों और रंगीनियों के प्रभाव से मुक्त रहते हैं, और हमेशा एक मात्र, अपनी स्वयं की रंगरहितता में डूबे रहते हैं। वे संतोष और स्थिरता को प्राप्त कर लेते हैं और शान्ति एवं निश्चलता के वातावरण में साँस लेते हैं।

आम तौर पर संसार की झंझटों से चिन्ता उत्पन्न होती है पर अधिकतर उन्हीं को जो उसे अनावश्यक महत्व देते हैं। अगर कोई कष्ट, मुसीबतों की ओर से अपना ध्यान हटा ले तो उनका कष्टदायी प्रभाव काफी कम हो जाता है। इसलिए हमें अनावश्यक रूप से लिप्त न होने की आदत डालनी चाहिए। तभी हम हर परिस्थिति में प्रसन्न और सन्तुष्ट रह सकेंगे। उदाहरणार्थ एक आदमी के पास उसके काम की विविध प्रकार की वस्तुएँ हैं। उनमें से कुछ बुरे स्वाद वाली या अच्छी न लगने वाली भी हो सकती हैं। फिर भी वह उन सबको अपनी-अपनी जगह सुव्यवस्थित ढंग से और सुरक्षित रखता है। यही बात उसके अपने माल-असबाब के बारे में होनी चाहिए जिसमें कष्ट और मुसीबतें भी शामिल हैं। मानव शरीर आत्मा का निवास है। उसमें सुन्दर और असुन्दर सभी प्रकार की वस्तुएँ हैं। सब कभी न कभी उसके उपयोग में आने के लिए रखी गई हैं। उन्हें

ठीक से सम्हाल कर रखना हमारा अपना काम है, ताकि आवश्यकता पड़ने पर उनसे हमारा मतलब निकल सके। वास्तव में कष्ट खड़े होते हैं उनकी व्यवस्था तथा उपयोग के बेढंगेपन से, न कि स्वयं उन चीजों से। विपत्तियों के बारे में भी यही बात लागू होती है। अगर उनका ठीक से उपयोग किया जाय तो वे हमारे लाभ की हो सकती हैं, और यदि दुरुपयोग किया जाय तो उन्हीं से हमारा नुकसान हो सकता है।

समस्या का सबसे प्रभावकारी उपाय यह है कि इन सबको किसी महान् आत्मा के जिम्मे सौंप दिया जाय, और स्वयं उनसे बिल्कुल अलग हो जायँ। चिन्ता, फिक्र और अधिक सोचना आदि सब में तब उतार आ जायगा, और केवल कर्तव्य के अलावा दृष्टि के सामने कुछ भी नहीं रहेगा। इस से समर्पण की भावना प्रकट होती है जो सारी साधना का पूर्णत्व है।

स्वादरहितता का अपना एक अपूर्व स्वाद है। यह स्वाद भी हमें चखना चाहिए। कुछ सीमा तक चिन्ताओं में सभी फँसे हैं. परन्तु सुखी वही हैं जो उनकी ओर ध्यान नहीं देते, और सभी परिस्थितियों में संतुष्ट एवं राजी रहते हैं। इसका एक मात्र रास्ता प्रेम और लगाव की भावना से अपने आपको केवल उस परम शक्ति से जोड़े रखना ही है। फ़िज़ूल की चीजों को हम कुत्तों के भौंकने की तरह ले सकते हैं। फिर हमारे भीतर का सब कुछ सुनियमित होकर सन्तुलन और साम्य की हालत में आने लगेगा। बिल्कुल ठीक-ठीक अर्थों में, 'मानव का रूपान्तरण' कहने से यही तात्पर्य निकलता है।

आखिरी निश्चय

मन की विक्षुब्ध अवस्था बहुधा अपने ही हृदय की स्वेच्छाचारिता या अधिक सोचने से होती है। एक बार पड़ी हुई आदत जब विचार शक्ति से और भी मजबूत बन जाती है तब उसे काबू में लाना बहुत ही कठिन हो जाता है। कभी-कभी तो वह आदमी को धीरे-धीरे अधःपतन के निम्नतम स्तर तक बहा ले जाती है। मैं आपसे फिर से यही प्रार्थना करता हूँ कि आप अपने को उसमें से खींच निकालिए और ऐसे की गोद में शरण लीजिये, जो आपको हमेशा अपनी बाहों में समेट लेने को तैयार खड़ा है। निःसन्देह आपके अन्तर में कभी-कभी ऐसा ही करने का सुझाव पैदा होता है, पर फिर भी एक चीज की कमी रह जाती है। वह है अडिग और आखिरी निश्चय। यह भी कोई बहुत कठिन नहीं है। अगर सही ढंग से लिया जाय तो शायद यह सबसे आसान है। किसी न किसी रूप में हर एक इसके लिए उत्सुक है। जहाँ तक मेरा सवाल है, मुझे इससे कभी कोई लगाव महसूस नहीं हुआ। बाहरी तौर पर देखने से शायद यह मेरी गलती सी भी लगे, पर इसका कारण मेरा अजीब स्वभाव ही था। मैंने जिसे अपना सर्वस्व समझ लिया उसका मैं सदा अन्धा भक्त बना रहा, और उसमें क्या गलत और क्या सही था, इसकी मैंने कभी परवाह नहीं की। मेरी हर चीज उसी

केवल उसी के विचार में डूबी हुई थी। जहाँ तक देवी देवताओं की पूजा अर्चना का सवाल है, उनकी मुझे कभी जरूरत महसूस नहीं हुई, और न अब होती है। मेरा तो लक्ष्य केवल उन तक पहुँचना था, और मैं चाहता था कि मेरा अन्त भी उन्हीं के सदृश हो। इसके अलावा मुझे और किसी भी वस्तु की चाह नहीं थी। ईश्वर ने मुझे अस्तित्व में ला दिया और उसी ने मुझे हर तरह ठीक से चलने की शक्ति और उपाय प्रदान किये हैं, जैसा कि वह सबके लिए करता है। पर ये ही दी हुई चीजें हमारे गलत उपयोग से बिगड़ कर अब रुकावटें बन गईं, और स्वामी एवं दास के बीच परदे का काम करने लगीं। अब उस तक पहुँचने के हमारे सारे प्रयत्न उस पर्दे की सतह पर केवल एक छोटा सा छिद्र बना पाते हैं। उससे आगे बढ़ना हमेशा असम्भव ही बना रह जाता है। उस छिद्र के भी आगे तक जा सके ऐसे, भला, वे कौन हैं ? मेरे लिए तो ऐसा व्यक्ति केवल मेरे गुरुदेव ही थे। तो मैं अपने को किसका ऋणी मानूँ, ईश्वर का या अपने गुरुदेव का ? मेरे लिए इस प्रश्न का उत्तर बिल्कुल स्पष्ट है, और मैं हर चीज के लिए केवल मात्र अपने गुरुदेव का ही ऋणी हूँ। इस ऋण को कैसे चुकाया जाय ? मेरे सामने केवल एक ही रास्ता है; वह है जितनी भी मेरी शक्ति है, पूरी लगाकर आप सबकी सेवा करना। मेरी हार्दिक इच्छा है कि आप सबको पूर्ण मुक्ति मिले। पर जहाँ गुलाब है वहाँ काँटा भी मौजूद है। गुलाब का खोजी काँटों से कभी नहीं

डरता। कहा जाता है कि महात्मा गाँधी ने एक बार कहा था कि मुक्ति का मार्ग जेल में से होकर है। मैंने भी एक बार अपने गुरुदेव को एक पत्र में ऐसे ही विचार व्यक्त किये थे, कि अध्यात्म का मार्ग पथरीली भूमि का बना है और कँटीली झाड़ियों में से गुजरता है। एक बार मैं इतनी सारी तकलीफों और अशान्ति से गुजरा कि मैंने गुरुदेव को लिख दिया कि ऐसे कष्ट अगर मेरी जगह किसी और को होते, जो सांसारिक चीजों में लिप्त होगा, तो वह जरूर आत्महत्या करने को उतारू हो जाता। परन्तु मेरे गुरुदेव के अति शक्तिशाली प्रभाव के कारण यह सब मुझे आनन्ददायक ही लगा। मैंने गरीबी की जिन्दगी चुनी और केवल नमक रोटी ही पाने का विचार मुझे बहुत अच्छा लगता था। मेरे लिये यह अफसोस की बात है कि आज तक मुझे कोई ऐसा नहीं मिला जो ऐसी हालत की शिक्षा मुझसे ले। केवल एक ही बार एक व्यक्ति में मैंने ऐसी स्थिति बलात् लाने की कोशिश की। मैं इस काम में बहुत दूर नहीं गया था कि कि ऊपर से बन्द कर देने का निर्देश मिला। अगर मैं ऐसी शिक्षा अपने सत्संगी भाइयों को देना शुरू करूँ तो उनमें जो भले हैं वे चुपचाप कतरा कर निकल जायेंगे, और जो कुछ तेज स्वभाव के हैं वे शायद खुले आम विरोध करने लगेंगे। अपने सम्बन्ध में मैं अपने ही विचारों में इतना डूबा रहता था कि उस वक्त कुत्ते की जूठन में से खाना भी आनन्ददायी मालूम देता था। नीची जाति या अस्पृश्य की तो बात ही

छोड़िये क्योंकि वे आखिर मनुष्य तो हैं। यह एक अलग बात है कि ऐसा मौका कभी आया ही नहीं। पर मेरे हृदय में मुझे अपने में और कुत्ते में कोई अन्तर महसूस नहीं होता था। यह थी मेरी हालत जब मैं आन्तरिक कष्ट से बिल्कुल भरा हुआ था। मेरे गुरुदेव का बड़ा भारी उपकार है कि उन्होंने लगातार इक्कीस वर्ष तक मुझे इस प्रकार की शिक्षा दी। इतना समय बीतने के बाद मुझे राहत का अनुभव होने लगा, और अब जो शान्ति मैं अनुभव करता हूँ, वह तब भुगती हुई तकलीफों के अनुपात में बहुत बढ़ी-चढ़ी है।

इसके अलावा उस समय मुझ पर पिताजी की कड़ी निगरानी बनी रहती थी। उन्हें मेरे आध्यात्मिक झुकाव की गन्ध मिल जाने से यह डर हो गया था कि कहीं मैं घर संसार छोड़ कर जंगल में रहने न चला जाऊँ। इस कारण मुझ पर कड़े प्रतिबन्ध लगा दिये गये और मुझे अपने गुरुदेव से मिलने जाने की भी आज्ञा नहीं दी जाती थी। पूरे जीवन भर में मुश्किल से शायद दस बार मैं उनके पास जा पाया होऊँगा। पर यह सब भी मुझे अधिक बुरा मालूम नहीं हुआ, क्योंकि मेरे पास ऐसी अनावश्यक चीजों पर सोचने का समय ही कहाँ था! यह सब उस भावना शून्यता की स्थिति के कारण हुआ जिसका विकास मुझमें पूज्य गुरुदेव की असीम कृपा के फलस्वरूप हुआ था। यह है वास्तव में *मानव-पूजा का एक आश्चर्यजनक परिणाम।

* मनुष्य रूप में गुरु की पूजा = गुरु पूजा

भाग २

गुरु का पथ-प्रदर्शन

"हमारी पद्धति इतनी सीधी-सादी है, कि इसी कारण से कभी-कभी लोगों के लिए इसके वास्तविक महत्व को समझ पाना बहुत कठिन हो जाता है।"

मेरे गुरुदेव का सन्देश

मेरे पूज्य गुरुदेव का वह संदेश, आपको सुनाने में मुझे बड़ी खुशी है, जो सारी मानव जाति के कल्याण के लिए है। उनका नाम था समर्थ गुरु महात्मा श्री रामचन्द्रजी महाराज [फतेहगढ़ी (उत्तर प्रदेश) के]। वे हमारे मिशन के आदिगुरु हैं। उन्होंने अपना सारा जीवन मनुष्य मात्र की आध्यात्मिक सेवा में बिताया। आमतौर पर लोगों की धारणा रहती है कि एक जीवन में मोक्षप्राप्ति कठिन ही नहीं, असम्भव है। पर यह धारणा भ्रमपूर्ण है। कौन कह सकता है कि शायद हमारी मौजूदा जिन्दगी ही हमारी अन्तिम हो, जो हमें मुक्ति की कोटि तक ले जाय। हमारे पूज्य गुरुदेव ने तो दिलेरी के साथ कहा है कि मुक्ति इस जीवन में ही नहीं, इसके एक भाग में भी अवश्य मिल सकती है, बशर्ते कि साधक में सच्ची लगन हो, और सौभाग्य से उसे उपयुक्त पथ-प्रदर्शक मिल जाय। अनेक उदाहरणों में उन्होंने यह प्रत्यक्ष दिखा भी दिया जिसका प्रमाण केवल निजी अनुभव से ही मिल सकता है।

उन्होंने ही यह बतलाया कि हृदय पर ध्यान करना सबसे सरल पद्धति है, और हमारे मिशन में उसी का अनुसरण किया जाता है। अन्य केन्द्रों पर, यथा, नासाग्र या भ्रूमध्य पर ध्यान

करना भी, जैसा अन्य संस्थाओं में बताया जाता है, कुछ हद तक लाभदायक सिद्ध हो सकता है। पर मेरी राय में हृदय पर ध्यान ही सबसे सरल और प्रभावकारी उपाय है। मैंने इस विषय की पूरी चर्चा Efficacy of Raj Yoga में की है। अब तक हम बहिर्मुख ही रहे हैं, अब हमें मन को अन्दर मोड़ कर अन्तर्मुख बनाना है। जब हम इसमें सफल हो जायेंगे तब हमें अपने आप आध्यात्मिक अनुभव होने लगेंगे, और अध्यात्म-मार्ग पर हमारी प्रगति बेरोकटोक होने लगेगी। साधना के अन्य तरीके भी कुछ हद तक सहायक हो सकते हैं, पर यह बात बिल्कुल निश्चित है कि जब तक हम बहिर्मुख बने रहेंगे, तब तक हमारी आँखें अन्दर की ओर कभी नहीं मुड़ेंगी। इसलिए सबसे सहायक उपाय वे ही हैं जो बिल्कुल सरल और स्वाभाविक हों, और जो स्थूलता के असर से बिल्कुल मुक्त हों। 'उस' सूक्ष्मातिसूक्ष्म को प्राप्त करने के लिए हमें स्वाभाविक रूप से ऐसे उपायों की ओर मुड़ना होगा, जो हमको बिल्कुल भारहीन और सूक्ष्मतम बनाने में सहायक हों। जब हम एक छोटे बच्चे को खुश करना चाहते हैं, तब हमें उसी के भोलेपन की नकल करनी पड़ती है। उसी तरह ईश्वर को प्राप्त करने के लिए भी हमें स्वयं ईश्वरीय बनना होगा।

आध्यात्मिकता के लिए दूसरी सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता मर्यादन (Moderation) की है। इसका अर्थ बहुत व्यापक है। यह केवल बाहरी आदतों के सुधार तक ही सीमित नहीं है,

जिससे कि वे औरों को अच्छी लगें, बल्कि इसमें हमारी सारी मानसिक और शारीरिक क्रियायें शामिल हो जाती हैं। हमारे पूज्य गुरुदेव का अभिमत था कि ऊँची उपलब्धि वाले व्यक्ति में भी किसी प्रकार यदि इसकी कमी है, तो समझ लेना चाहिए उसने अध्यात्म के क्षेत्र में प्रवेश तक नहीं पाया। मुलायमियत (मृदुता) का वास्तविक अर्थ ऐसे क्षेत्र में प्रवेश है, जहाँ हमारी चंचल मनोवृत्तियाँ काफी सीमा तक शान्त हो गई हों। बाकी बची-खुची चंचलता शायद इस क्षेत्र विशेष की हालत से सम्बन्धित हो सकती है जिसमें हमारी सैर चल रही हो।

सभी क्षेत्रों में कुछ ग्रन्थियाँ (गाँठें) विद्यमान हैं। जब ईश्वरीय प्रवाह सृष्टि के सृजन के लिए मूल उद्गम से नीचे की ओर बह निकला, तब झटकों के कारण राह में कुछ ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो गईं, जो शक्ति की केन्द्र बन गईं। जब हम इन धाराओं में ऊपर की ओर तैरना शुरू करते हैं तब ध्यान की शक्ति के द्वारा ये ग्रन्थियाँ खुलने लगती हैं, जिससे हमारी प्रगति अधिक सरल और अबाध हो जाती है। इसके बाद हम ऐसे विशुद्ध क्षेत्र में प्रवेश कर जाते हैं जहाँ ग्रन्थियों का असर बहुत कम हो जाता है। इस तरह एक के बाद एक मंजिल तय करते हुए हम ऐसे स्थान पर पहुँच जाते हैं जहाँ माया का प्रभाव लगभग खत्म हो जाता है। साधारणतया बड़े से बड़े महर्षि भी यहीं तक पहुँच पाये; परन्तु इसके आगे भी बहुत सारा बाकी रह जाता है। अध्यात्म की दृष्टि से जाँच कर मैं कह सकता

हूँ कि अभी हम सिर्फ पाँचवें वृत्त तक पहुँचे हैं, तथा ग्यारह पार करने बाकी हैं।* ('सत्य का उदय' में २३ वृत्तों का मान-चित्र पृष्ठ संख्या १८ के सामने देखिये।) जब हम सभी सोलहों वृत्त पार कर जाते हैं तब हम 'केन्द्रीय क्षेत्र' में प्रवेश करते हैं, जिस नाम से मैंने उसका उल्लेख अपनी पुस्तक (Efficacy of Raj Yoga) में किया है। इस पद तक पहिले शरीरधारी आत्मा का पहुँचना बिल्कुल असम्भव माना जाता था; परन्तु हमारे पूज्य गुरुदेव की आश्चर्यकारक शोध के कारण अब भौतिक देहधारी भी इसे प्राप्त कर सकते हैं। लोगों को विश्वास नहीं होगा, पर मैं तो यही कहूँगा कि यह हालत प्रत्यक्ष अनुभव की जा सकती है, बशर्ते कि कोई इसके लिए परिश्रम करे, या कोई वास्तविक पहुँचा हुआ सद्गुरु मिल जाय, और वह अपनी प्राणाहुति या आध्यात्मिक शक्ति के संचरण से कम से कम क्षण भर के लिए उसकी झलक अवश्य दिखा सके।

भक्ति के बारे में जहाँ क अन्तर्दृष्टि से मैंने देखा है, मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि साधारणतया लोग जिसे भक्ति समझते हैं, वह वास्तव में केवल चाटुकारिता है। वास्तविक भक्ति और चाटुकारिता में बड़ा भारी अन्तर है। वह तो सीधा-सादा लगाव है, ईश्वर के प्रति सशक्त और अटल लगाव। कुछ लोगों को इस (प्रेम) की टीस

---

* १९८० संस्करण

सी भी अनुभव होती है। मेरा खयाल है कि वह साधारण कोटि की चाटुकारता से कदाचित थोड़ी ऊँची है, पर उसे हम फोड़े के दर्द से उत्पन्न हुई टीस की तरह मान सकते हैं। मैं उसे फोड़े की टीस इस वास्ते कहता हूँ क्योंकि उसमें ईश्वर-स्मरण बिल्कुल नहीं होता। इसका मतलब है हमारी भक्ति या ईश्वर प्रेम जैसा होना चाहिए वैसा नहीं है। वह लक्ष्य से बहुत नीचा है। ऐसे दर्द की एक मात्र दवा शल्यक्रिया द्वारा फोड़े का सारा विष निकाल फेंकना है। यदि सतर्कता न रही तो धीरे-धीरे वह पुराना नासूर बन जायेगा, जिसका उपचार बिल्कुल असम्भव होगा। भीतर का विष वास्तव में अनीश्वरीय और अध्यात्म-विरुद्ध चीजें हैं, जो बुरी संगत और वातावरण के असर से हमारे भीतर इकट्ठी हो गई हैं। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि हमारी पूजा और ध्यान के साधन भी ऐसे होने चाहिए जिनसे हमारे हृदय में सच्चा प्रेम प्रस्फुटित हो।

ईश्वर-प्रेम विकसित करने के विभिन्न तरीके हैं, जिनके लिए विभिन्न भावों का आश्रय लिया जाता है। उदाहरण के लिए पितृभाव, मातृभाव, सखाभाव या स्वामी भाव हैं। परन्तु मेरे बिचार से ईश्वर को प्रेमास्पद के रूप में मानना इन सब में अच्छा और सरल है। यदि ईश्वर को प्रेमास्पद और अपने को प्रेमी मान कर इसी भाव से आगे बढ़ा जाय तो रास्ता आसान हो जायेगा। समय बीतने पर उसके फलस्वरूप ईश्वर स्वयं प्रेमी और हम प्रेमास्पद बन जायेंगे। यह ध्यान की चौथी

अवस्था है। इस हालत में यदि हम सोचने लगें कि हम लक्ष्य तक पहुँच गये तो बड़ी भारी भूल होगी। अभी आगे बहुत बाकी रह जाता है। परन्तु इसका वर्णन शब्दों से नहीं किया जा सकता, कारण वह तो क्रियात्मक अनुभव से ही सम्बन्धित है। यह सब कहकर मैं उन चीजों पर बल देना चाहता हूँ जो आध्यात्मिक प्रगति के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। दुर्भाग्य से अन्तिम प्राप्तव्य ही नहीं, पूर्णता तक का मानक (Standard) इतना गिर गया है, और भक्ति इतनी सस्ती चीज बन गई है कि इनका वास्तविक मूल्य बिल्कुल खो सा गया है। किसी विशेष तरह के नेत्र-संचालन को ही लोग भक्ति समझ बैठते हैं, और उसके अनुभव को बहुत बड़ी सिद्धि। और ऐसी सिद्धि प्राप्त कर लेना, सुना है, किसी को आजकल का 'गुरु' बनाने के लिए पर्याप्त माना जाता है। जमाना बिगड़ता जा रहा है और उसके साथ हमारी खराबियाँ भी बढ़ती जा रही हैं। अधःपतन की शुरुआत हो चुकी है और लोगों के मन सच्चे रास्ते से हटते जा रहे हैं। इस तरह जब वे पूरे-पूरे बिगड़ गये तब पतन का खयाल उनके मन में घर करने लगा। पतन की इस हालत में वे गलत को सही मान बैठे और उसी में और आगे बढ़ते रहे। उसी को वे जीवन की समस्याओं के सुलझाने का वास्तविक उपाय मानने लगे और उसी पर व्याख्यान, प्रवचन भी देते रहे। उसे लुभावने रंगों में रँगकर लोगों के समक्ष रक्खा और उन्हें स्वीकार करके अनुसरण करने को प्रेरित किया। इनमे कहीं भी प्रकाश की

एक रेखा तक ढूँढ़े नहीं मिलती। सदाचरण की भावना इतनी बिगड़ गई कि सही और गलत का विवेक भी लगभग नष्ट हो गया। पूर्वाग्रह और पक्षपात की भावना इतनी बढ़ गई कि उसी को लेकर अनगिनत झगड़े-फसाद और दंगे-मारपीट तक 'धर्म' का काम गिने जाने लगे जिसके उदाहरण सर्वत्र प्रचुरता में हैं। कुछ लोग ईश्वर के साकार रूप का प्रचार करते हैं, कुछ कुछ निराकार का; कुछ सगुण का, दूसरे निर्गुण का। इन पर खूब गरमागरम बहस और वादविवाद होता है जिससे एक दूसरे के प्रति कड़वाहट, घृणा और आपसी भेदभाव बढ़ते हैं। सगुण और निर्गुण पंथों के अनुयायी इतना वाग्वितण्डा खड़ा करते हैं, पर मेरे खयाल से दोनों एक सरीखे गलत रास्ते पर हैं। इसी कारण दोनों ही आदर्श की प्राप्ति में असफल रहे हैं। वास्तव में एक ही लक्ष्य साक्षात्कार या ईश्वर प्राप्ति के दो मार्ग हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि जो सगुण पंथ पर चलना शुरू करते हैं आखिर तक उसमें चिपके रहते हैं, तथा उनके लिए अनन्त हमेशा दृष्टि के बाहर ही रहता है। मतलब यह कि उन्होंने वायु की वाष्प को ठोस करके कड़ी बर्फानी चट्टान बना लिया है। यह बर्फानी चट्टान यदि सागर में उतर जाय तो जहाजों के इससे टकराकर डूब जाने की सम्भावना रहती है। निर्गुण वालों का भी यही हाल होगा, अगर वे उसी को पर्याप्त मानकर अन्त तक उसी से चिपके रहें। अन्तर इतना ही है कि उनकी चट्टान कुछ आगे जाकर मिलेगी। सच तो

यह है कि ईश्वर न सगुण है, न निर्गुण वह तो दोनों से बिल्कुल परे है। वह तो 'जो है सो है'। इस पहेली को सुलझाने के लिए फिर क्या किया जाय? केवल मात्र रास्ता यही है कि हम परमतत्व पर अपनी दृष्टि जमाये रक्खें, चाहे वह सगुण हो या निर्गुण या दोनों ही न हो, और उसके प्रति अपना प्रेम बढ़ायें।

अब केवल साक्षात्कार की समस्या रह जाती है। साधारणतया लोग इसका अर्थ समझते हैं विष्णु के शारीरिक आकार का दर्शन जिनके चार हाथों में शंख, चक्र, गदा, पद्म हों। मेरे विचार से इस प्रकार का दर्शन पुजारी की अपनी ठोस मानसिक अवस्था का ही प्रतिफल है। उसने ध्यान के लिए यही सामने रक्खा जिससे उसका सूक्ष्म अहम् वही रूप लेकर सामने आ खड़ा होता है। राजयोग साधना में जो मानसिक स्थिति विकसित होती है, वह इससे बिल्कुल भिन्न होती है। उस स्थिति में उसे सर्वत्र, सब चीजों में एक ईश्वरीय शक्ति की उपस्थिति का अनुभव होता है, और इससे वह एक आनंदातिरेक की हालत को प्राप्त हो जाता है। वास्तव में वास्तविक दर्शन इसे कहते हैं। लोग उसमें झांक कर देखें और स्वयं इसका अनुभव अपने आप करें।

पर ऐसे दर्शन की स्थिति प्राप्त करना भी पूर्णता नहीं माना जा सकता। यह तो ईश्वर की ओर केवल पहला पग है। हमें

अभी और कितना आगे जाना है या कितनी और मंज़िलों में से गुजरना है, उनका कोई निश्चित अन्दाज़ नहीं लगाया जा सकता। जब हमारा अन्तिम लक्ष्य 'भूमा' या परमतत्त्व में लीन हो जाना है, तब दर्शन की स्थिति किसी प्रकार भी अन्तिम नहीं मानी जा सकती। एक तरह से हम इसे एक प्रकार का मनोरंजन-सा मान सकते हैं जिसमें पाई हुई स्थिति का हम आनंद उठाते रहते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे किसी बच्चे को नया खिलौना मिल गया हो। अगर आप इसे अन्तश्चक्षु से देखें तो उसकी सच्ची स्थिति आसानी से आपकी समझ में आ जायगी। मैं इसे मनोरंजन इसलिए कहता हूँ कि अभ्यासी को इससे थोड़ी देर के लिए भी दूर होना अच्छा नहीं लगता। हममें से अधिकांश पूजा के नाम पर जो करते हैं, उसके पीछे भी एक प्रकार के आनंद की ही भावना रहती है। अतः यह एक प्रकार के मनोरंजन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मनोरंजन के साधन विभिन्न प्रकार के होते हैं। बच्चों के लिए खिलौने, पंडित के लिए पुस्तकें पढ़ना, पुजारी के लिए अभ्यास एवं साधना, भक्त के लिए भावना भरा प्रेम, परमतत्त्व प्राप्त-आत्माके लिए साक्षात्कार एवं लयावस्था और पूर्णत्व-प्राप्त के लिए अपनी ज्ञानरहित अवस्था। पर यहाँ तक तो मनोरंजन केवल मनोरंजन के लिए ही हुआ। असली वास्तविकता जब हम इन सबको पार कर जाते हैं, तब बहुत आगे कहीं आती है। दुःख की बात है कि लोग उपर्युक्त अवस्थाओं को ही परमतत्त्व मानकर उनमें उलझे रह जाते हैं, और वहीं पर अपनी साधना समाप्त कर देते हैं।

'मिल गई जिसको गाँठ हलदी की,
उसने समझा कि हूँ मैं पनसारी।'

परमतत्त्व वास्तव में क्या हो सकता है, इसका वर्णन शब्दों में करना बहुत कठिन है। समझ में आने के लिए हम उसे सभी आध्यात्मिक स्थितियों का अन्त कह सकते हैं, यद्यपि यहाँ से वास्तविकता कदाचित प्रारम्भ होती हो। आगे जाकर इसका भी लोप हो जाता है, और उसकी स्मृति भी पीछे छूट जाती है। फिर हम ऐसे स्तर पर पहुँच जाते हैं जहाँ हमारा पैराव अनन्त काल तक चलता रहता है। जो भी उस अनन्त स्थिति का स्वाद चखने को उत्सुक हो, उसे मैं कह सकता हूँ कि उस क्षेत्र में प्रवेश करने से पहले समस्त भावनात्मक प्रभावों को दूर हटाकर इसमें आये।

ऊपर जो कुछ मैंने कहा वह सब केवल अपने प्रयत्नों से प्राप्त करना बहुत ही कठिन है। कारण यह है कि जैसे-जैसे हम ऊपर से ऊपर पहुँचने लगते हैं, वैसे प्रकृति की शक्ति सूक्ष्मतर होती जाती है। और, शक्ति जितनी ही सूक्ष्म होगी उतनी ही अधिक प्रबल होगी। इसलिए अपने आप के प्रयत्नों से ऊपर उठना असम्भव हो जाता है। ऐसी हालत में किसी उपयुक्त पथ-प्रदर्शक की ओर से सहायता और अवलम्ब अत्यन्त आवश्यक हो जाती है जो अपनी शक्ति से अभ्यासी को ऊपर की ओर बढ़ावे। परन्तु मेरे ख्याल में सद्गुरु की शक्ति से ऊपर ठेले

जाने पर भी फिर से नीचे फिसल आने का डर बना रहता है जब तक कि सद्गुरु उसे वहीं टिकाये रखने के लिए भी अपनी शक्ति का उपयोग न करे। मेरे एक सत्संगी भाई को ब्रह्माण्ड-मंडल के चौथे स्तर के आगे पहुँचाने के बाद उनकी तब की स्थिति के भीतर प्रवेश करके मैंने प्रत्यक्ष परीक्षा की तो मालूम पड़ा कि उससे आगे के स्तर तक अगर अपने आपके प्रयत्नों से जाया जाय तो करीब एक हजार वर्ष लगेंगे ! और अगर उसके भी आगे जाना है तो पाँच हजार वर्ष लगेंगे !! इस तरह आध्यात्मिक स्तर अनगिनत होने के कारण उन्हें पार करने में लगने वाला समय भी अगण्य है। 'प्राणाहुति' की शक्ति ही ऐसा एक मात्र उपाय है जिसके द्वारा यह समय कम किया जा सकता है, और जिस चीज़ में हजारों वर्षों की अपेक्षा होती है उसे एक ही जीवन काल में पाना सम्भव हो जाता है। पर अन्तिम सफलता पाने के लिए आखिरी लक्ष्य भी लगातार दृष्टि के सामने रहना चाहिए।

अगर हम आखिरी लक्ष्य दृष्टि में रखे बिना ही साधना करना जारी रखें तो हमारी स्थिति उस पथिक जैसी होगी जो गन्तव्य का विचार किए बिना ही यात्रा करता जा रहा हो। आध्यात्मिक पथ का पता तब ही लग सकता है जब लक्ष्य बराबर सामने बना रहे।

अब वह क्या है जो हमें राह पर स्थिर रखता है ? वह

कौन सी शक्ति है जो हमें आगे ठेलती जाती है, और सारी राह में मदद देती तथा पथ-प्रदर्शन करती है ? यह एक मात्र हमारा मन है जिसे हम अक्सर दुष्ट और नीच समझते हैं। वास्तव में हमीं ने इसे अतिक्रियाशील, चंचल, अनिश्चयपूर्ण और ढुलमुल बनाकर इसकी आदतें बिगाड़ी हैं। अन्यथा यही हमारे भीतर विद्यमान सबसे उत्तम, एक मात्र सर्वोपयोगी उपकरण है जिसके द्वारा समस्त ईश्वरीय आज्ञायें तथा उच्च तलों के सूक्ष्म अनुभव हम तक पहुँचते हैं। अपनी बिगड़ी हुई हालत में अवश्य, यही हममें भ्रम उत्पन्न कर देता है जिसे भूल से लोग ऊँची प्रगति की विभिन्न स्थितियाँ समझ बैठते हैं। मैंने ऐसे दयनीय लोगों को भी देखा है। संयोग से अगर कोई प्रेत-विद्या में रुचि रखने वाला हुआ, तो बुराई अत्यधिक बढ़ जाती है क्योंकि वह इन्हें महात्माओं या देवताओं से सम्पर्क मान बैठता है और दैवी आज्ञाएँ प्राप्त करने का दम भरने लगता है। परन्तु अगर मन अपनी विशुद्ध अवस्था में ले आया जाय तो वह कभी किसी को इस प्रकार पथभ्रांत नहीं करता। मानव मन की उत्पत्ति के विषय में मेरी अपनी खोज इस प्रकार है :

जब सृष्टि का समय आया तब केन्द्र के नीचे के प्रदेश में एक 'क्षोभ' उत्पन्न हुआ जो सृष्टि का आधार बना। उस समय यह अपने परम तत्त्व की अवस्था में था, क्योंकि ईश्वर के बाद दूसरी वस्तु यही थी। वही वस्तु मनुष्य में मन बन कर आई जिससे आगे केवल ईश्वर ही है। इसे Efficacy of Raj Yoga में

मैंने केन्द्र कहा है। अब जरा कल्पना लगाइये कि आज की स्थिति में मन कितना बिगड़ा और दूषित हो गया है। अब इसे फिर से शुद्ध करके अपनी असली स्थिति में लाया जाय, तो यह वही बतायेगा जो सही है। मन को प्राणाहुति के द्वारा तुरन्त अपनी वास्तविक शुद्ध स्थिति में लाया जा सकता है, यदि सौभाग्य से ऐसे उच्च स्तर का सद्गुरु मिल जाय और साथ ही अभ्यासी भी प्राणाहुति की तीव्र शक्ति सहन करने की क्षमता वाला हो।

मैंने केवल कुछ आवश्यक विषयों, का ही उल्लेख किया है, और पग-पग पर प्राणाहुति के महत्त्व पर बल दिया है। कारण यह है कि प्रगति का इससे अधिक अच्छा और प्रभावशाली उपाय अब तक मेरी दृष्टि में नहीं आया। कारण यह है कि सद्गुरु की उच्चस्तर की शक्ति के साथ-साथ यदि हमारे अपने प्रयत्न भी जुड़ जायँ तो प्रगति दुगुनी तेजी से होने लगती है। साथ ही इस मार्ग में अपने प्रयत्न का अत्यधिक भान न हो पाने से अहंकार की भावना को बढ़ावा नहीं मिलता जो अन्य स्थूल यंत्रवत साधना करने वालों में अक्सर उत्पन्न हो जाता है। अब चूँकि युग बदल रहा है, जैसा मैंने Efficacy of Raj Yoga में संकेत किया है, सारी दुनिया में समर्थ गुरु श्री रामचन्द्र जी महाराज द्वारा शुरू किये हुए मार्ग के सदृश साधनाओं का ही अनुसरण होगा।

ब्रह्मविद्या एक विज्ञान है। प्रकृति की शक्ति में, जो असल

भंडार से (ग्रन्थियों के रूप में) बहती है, उसमें सृजन और संहार दोनों की क्षमता विद्यमान रहती है। भारत के ऋषियों ने हमेशा मानवता के सुधार के लिए सृजनात्मक शक्ति का उपयोग किया। संहारक शक्ति भी जो प्रचुर मात्रा में विद्यमान है, इतनी तीव्र है कि उसके सामने अणुबम भी किसी गिनती में नहीं है। अब वर्तमान संसार की जगह एक नई दुनिया का निर्माण करने के लिए इस शक्ति का भी उपयोग किया जा रहा है। आध्यात्मिक पुनर्जागरण का प्रारम्भ हो चुका है, और कितना भी समय क्यों न लगे भारत एक बार फिर इस क्षेत्र में विश्व का नेतृत्व करेगा। संसार को शीघ्र ही इस बात का अनुभव होगा कि पृथ्वीतल पर कोई भी राष्ट्र अध्यात्म को आधारशिला बनाये बिना दुनिया में बच नहीं सकेगा। कूट-नीति और छल-कपट के दिन अब शीघ्र ही शेष होंगे और चालू शताब्दी के अन्त तक विश्व में आश्चर्यजनक परिवर्तनों का अस्तित्व में आना अवश्यम्भावी है। जो भी होने वाला है उसका सहर्ष स्वागत करने के लिए हर व्यक्ति को तैयार रहना होगा, और अध्यात्म मार्ग पर आरूढ़ होना होगा; कारण केवल मात्र इसी से उसका कल्याण सुनिश्चित हो पायेगा। हालाँकि मैं हमेशा लोगों के अनजाने भी उनकी कुछ सीमा तक सेवा करता रहा हूँ, फिर भी इस बारे में सेवा करने का पूरा अवसर उन्होंने मुझे नहीं दिया। मैंने ऊपर जो कुछ भी कहा वह समस्त विश्व के लिए मेरे पूज्य गुरुदेव का संदेश है—

हजारों साल नर्गिस अपनी बेनूरी पे रोती है।
बड़ी मुश्किल से होता है चमन में दीदावर पैदा॥

———

व्यावहारिक प्रयत्न

ईश्वर-साक्षात्कार एक व्यावहारिक साधना है जिसके लिए क्रियात्मक अनुभव द्वारा प्रत्यक्ष दर्शन अत्यन्त आवश्यक है। साधना के लिए आवश्यक बताये गये कड़े नियम आजकल लोगों के सामान्य दैनिक जीवन के लिए बहुत कठिन हैं; अतएव वे व्यावहारिक नहीं होते। आज दुनिया को वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित एक ऐसी कुशल साधना की जरूरत है जो हमारे सामान्य जीवन के साथ-साथ कदम मिलाकर चल सके। हमारे पूज्य गुरुदेव ने इन सब कठिनाइयों एवं मनुष्य की सब शारीरिक एवं मानसिक दुर्बलताओं तथा छोटी-सी आयु को ध्यान में रखते हुए बड़ी कृपा करके एक अत्यन्त सरल रास्ता बताया है। इसके द्वारा कम से कम समय में बिना अनावश्यक परिश्रम या कष्ट किये, पूर्ण एवं निश्चित सफलता प्राप्त हो सकती है।

सहज मार्ग में सद्‌गुरु अपनी भीतरी शक्ति के उपयोग से अभ्यासी के भीतर सुषुप्त शक्ति को क्रियाशील और त्वरित बनाता है, और प्राणाहुति की पद्धति द्वारा ईश्वरीय धारा को उसके हृदय की ओर मोड़ देता है। इसके फलस्वरूप अभ्यासी आध्यात्मिक रूप से प्रगति करने लगता है, और उसे अधिकाधिक आनन्द का अनुभव होने लगता है। अभ्यासी को केवल

अपने को इसे ग्रहण करने योग्य बनाना होता है, या दूसरे शब्दों में उसे अपने को सक्षम और पात्र बनाना होता है। इस प्रकार पुराने जमाने में जिसके लिए युगों-युगों का लगातार परिश्रम तथा कठिनाइयाँ झेलना आवश्यक होता था, वह अब बड़ी आसानी से बहुत कम समय में, नहीं के बराबर श्रम द्वारा साध्य हो सकता है। पर यह सब कुछ बिल्कुल क्रियात्मक है और किसी भी प्रकार शब्दों द्वारा बताया नहीं जा सकता, केवल व्यावहारिक अनुभूति से ही इसके गुण जाने जा सकते हैं।

इस पद्धति की एक आश्चर्यजनक बात यह है कि इसमें दीक्षित शिक्षक प्राणाहुति के द्वारा अभ्यासी को ऐसे उच्च स्तर का अनुभव करा सकता है जहाँ वह स्वयं भी नहीं पहुँचा। कारण यह है कि वास्तव में शिक्षक अभ्यासी को प्राणाहुति द्वारा अपनी ओर से कुछ भी प्रदान नहीं करता, बल्कि सब कुछ सद्गुरु स्वयं ही शिक्षक के माध्यम द्वारा करता है। इसलिए शिक्षक की व्यक्तिगत सीमाओं का अभ्यासी पर कोई असर नहीं पड़ता और जो प्राणाहुति बाह्य दृष्टि से उससे आती हुई-सी लगती है वह वास्तव में 'अनन्त' से ही आती है। केवल शिक्षक की विचार-शक्ति जरूर इतनी पर्याप्त विकसित होनी चाहिए कि वह प्रवाह को अभ्यासी की ओर मुड़ा सके।

दूसरी महत्वपूर्ण ध्यान में रखने की बात है नैतिक अनुशासन, जिसके विषय में हर व्यक्ति को विशेष रूप से बहुत

सतर्क रहना चाहिए। उसे कभी कोई ऐसा काम नहीं करना चाहिए जिससे स्वयं उसकी या उसकी संस्था का दुर्नाम हो। उसका अपना रहन-सहन और दूसरों के साथ बर्ताव सादगी-पूर्ण, निरभिमानी और मित्रता का होना चाहिए, तथा औरों के प्रति प्रेम और सहानुभूति की भावना से प्रेरित होना चाहिए। इससे उसको स्वयं भी संतोष और शान्ति लाभ होगा। व्यक्ति को हमेशा ईश्वर की याद करते हुए सरल और पवित्र जीवन बिताते हुए, अपनी गृहस्थी के सब दायित्वों को अच्छी तरह निभाना चाहिए। सांसारिक कर्तव्यों की एकदम उपेक्षा करके घर छोड़कर भाग निकलना और निरुद्देश्य भटकते रहना बिल्कुल भी न्यायसंगत नहीं है। वास्तव में ऐसे तथाकथित बैराग्य की स्थिति में भी व्यक्ति का सांसारिक भावनाओं से मुक्त होना असम्भव होता है। अगर ईश्वर की उपेक्षा करने वाला गृहस्थ ईश्वर को धोखा देने वाला कहा जा सकता है तो ऐसा तथा-कथित वैरागी तो उससे भी बड़ा पापी सिद्ध होगा। संत कबीर ने बहुत ठीक कहा है—

"ईश्वर ब्रह्मचारी से बीस कदम दूर रहता है, और संन्यासी से तीस कदम। परन्तु वह उस गृहस्थ के भीतर निवास करता है जो उसका अपने हृदय में स्वागत करता है।"

हमें सचमुच हमेशा ईश्वर के साथ एवं ईश्वर के भीतर ही रहने का तथा एक क्षण के लिए भी उससे विलग न होने का ही प्रयत्न करना चाहिए। जब हम उस दशा तक पहुँच जाते

हैं तब हममें हमेशा वैराग्य की स्थिति बनी रहने लगती है। इस प्रकार ईश्वर के साथ जुड़ जाने से, संसार से अपने आप विरक्ति होने लगती है, और वही सच्चा वैराग्य है।

कुछ लोग मानने लगते हैं कि इस पद्धति में बतायी हुई क्रियाएँ करते रहना ही, अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पर्याप्त है। पर वास्तव में ऐसा नहीं है। सहजमार्ग-पद्धति में साधना के बारे में बतलाते हुए मैं इसके असली तत्त्व की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना बहुत जरूरी समझता हूँ। अभ्यासी को चाहिए कि उसका ध्यान केवल उसके बाह्य रूपों पर ही अटका न रहे। दुर्भाग्यवश लोगों की दृष्टि केवल औपचारिक नियमों और क्रियाओं तक ही जाती है और उसकी असली आत्मा की उपेक्षा कर दी जाती है। इस साधना में हालाँकि आध्यात्मिक प्रशिक्षण प्राणाहुति के द्वारा दिया जाता है फिर भी सबसे अधिक महत्त्व की और अत्यावश्यक वस्तु अभ्यासी को स्वयं अपने में पैदा करनी होती है। वह है प्रेम और लगाव, जो अभ्यास के बराबर पूरक बने रहने चाहिए। राजयोग में यह तत्त्व भगवान कृष्ण ने, अभ्यासी की प्रगति में तेज़ी लाने के उद्देश्य से, प्रविष्ट किया था। प्रेम उत्पन्न करने का एकमात्र उपाय है सतत स्मरण। अपना दिन-प्रति-दिन का काम करते समय यही सोचिए कि वह आप ईश्वराज्ञा समझ कर कर रहे हैं; इसलिए वह आपके कर्त्तव्य का भाग है। यह सीधी-सादी क्रिया यदि सही भावना से की जाय, तो वह बराबर आपको परमतत्त्व के सम्पर्क में रखेगी।

दूसरा लाभ यह होगा कि आपके नये संस्कार बनना बन्द हो जायँगे। सतत स्मरण से ईश्वर की ओर लगाव बढ़ता है, जो भक्ति के रूप में विकसित हो जाता है। कारण यह है कि विचार में बसी हुई गरमी भावना को बढ़ाती है, और वही भक्ति का रूप ले लेती है। अगर आप इसकी आदत डाल लें तो आपको पता चलेगा कि आप में कितनी जल्दी प्रेम-भावना विकसित होती है। वास्तव में वह आध्यात्मिक जीवन का एक अभिन्न अंग है।

कुछ संस्थाओं में अभ्यास की प्रक्रिया बहुधा गोपनीय रखी जाती है। वह उन्हीं के सामने खोली या स्पष्ट की जाती है जो औपचारिक रूप से संस्था में प्रविष्ट होना स्वीकार कर लेते हैं। इसमें उनका क्या उद्देश्य निहित होता है, यह ठीक-ठीक समझ में नहीं आता। प्रकृति में कुछ भी गोपनीय नहीं है। मेरी मान्यता है कि ईश्वरीय मार्ग के अनुगामी कहलाने वालों के पास भी कोई चीज़ गुप्त नहीं होनी चाहिए। हमारी संस्था में हृदय पर ध्यान की प्रक्रिया का अनुसरण किया जाता है। पतंजलि ने भी वही पद्धति बतलायी है। इस पद्धति के मूलभूत सिद्धान्तों का विवेचन मेरी पुस्तक Efficacy of Raj Yoga में किया गया है। उसकी पुनरुक्ति यहाँ अनावश्यक है। यह प्रक्रिया हमारे गठन में से स्थूलता बाहर निकालने और अधिकतम सूक्ष्मता प्राप्त करने में बड़ी सहायता देती है। ईश्वर स्थूलता से पूर्णतया मुक्त है। इसलिए ईश्वर साक्षात्कार का

मतलब यही होगा कि हम भी उसी के सदृश सूक्ष्म और विशुद्ध स्थिति को प्राप्त करें। इस पद्धति का सबसे बड़ा गुण यही है। इससे अभ्यासी को आवरणों के रूप में इकट्ठी हुई ठोसता से मुक्ति पाने में बड़ी मदद मिलती है। इसके लिए प्राणाहुति के रूप में मिलने वाली सद्गुरु की सहायता का सर्वाधिक महत्त्व है। अतएव अभ्यासी को ऐसी क्रियाओं और पद्धतियों से दूर रहना अत्यन्त आवश्यक है जो उसमें से स्थूलता को दूर करने के बजाय उसे बढ़ाती चली जाय। हमें उन गलत परम्परागत साधनों से कभी चिपके न रहना चाहिए जिनसे इच्छित फल प्राप्ति की आशा न हो, अपितु हमें तो उन्हीं को अपनाना चाहिए जिनसे सूक्ष्मता की ओर बढ़ने में मदद मिले।

जब मनुष्य की आँखें अपने भीतरी 'स्व' की ओर मुड़ती हैं तभी वह असली मानव बनता है। इसी में असलियत की वास्तविक खोज निहित है। जो इससे जुड़ जाता है वह ऐसे क्षेत्र में अपना पग जमा लेता है जहाँ से हर चीज अपने आप उतरी थी। दूसरे शब्दों में वह अपना सम्बन्ध असल स्रोत से जोड़ लेता है। उसके बाद केवल उस स्थिति का विस्तार बाकी रह जाता है जिसके लिए निर्धारित अभ्यास पर्याप्त है। मैं सबसे सरल उपाय बताता हूँ, फिर भी लोग उसकी ओर कुछ ध्यान नहीं देते। कारण सम्भवतः यही हो सकता है कि उनमें सच्ची लगन या चाह नहीं है। जब लगन उत्पन्न हो जाती है (ईश्वर करे ऐसा ही हो!) तब लक्ष्य की प्राप्ति में बिल्कुल समय नहीं लगता।

अफसोस है कि हमारे अधिकांश सत्संगी भाई अपने आप में ही अत्यधिक व्यस्त रहते हैं, और उसी को सबसे अधिक महत्त्व देते हैं। अनगिनत जिन्दगानियाँ गुजर चुकीं, पर अपने वतन की वापसी न हो पाई। और अब भी लौटने की तड़प हमारे हृदय में फिर से जागृत नहीं हुई लगती। वास्तव में यह सब ईश्वर की स्वेच्छा पर निर्भर है। वे कम से कम इतना ही मुझ से ले लें जितना दे सकने की मुझमें क्षमता है। उसके बाद भी अगर उनकी तड़प बनी रही तो मैं बड़ी खुशी से उन्हें किसी दूसरे के पास जाने की सलाह दूँगा जो मुझसे श्रेष्ठतर या अधिक योग्य हो। यदि मैं लोगों को अपने से भी अधिक ऊपर उठते देखूँ तो मुझे सबसे अधिक खुशी होगी। मैं क्या हूँ और कहाँ हूँ, यह तो केवल गुरुदेव ही पूरी तरह जानते हैं। मैं तो केवल इतना ही समझ सकता हूँ कि अपनी पहुँच की सीमा का पता लगाने में भी मैं असमर्थ हूँ। मुझे मालूम नहीं कि अब भी मुझे कितना तैरना बाकी है। अगर आगे चल कर किसी सह-योगी को इसकी पूरी समझ आवे, तो उसे पश्चात्ताप होगा कि अब जितना मिल रहा है उसे भी कोई ले न सका। मुझे आश्चर्य है कि इसकी बार-बार याद दिलाने पर भी उनके हृदय नहीं पिघलते। सम्भव है इसका भी कारण कुछ मेरी ही दुर्बलताएँ हों।

हमारी पद्धति इतनी सीधी-सादी है कि इसी कारण से कभी-कभी लोगों के लिए इसके वास्तविक महत्त्व को समझ पाना

बहुत कठिन हो जाता है। कठिनाइयाँ तब उठ खड़ी होती हैं जब लोग ईश्वर को, जैसा वह है, वैसा नहीं लेना चाहते, वरन् उसे अपनी मनगढ़न्त बनावटी चीजों में बिठाया हुआ देखना चाहते हैं जो उनके स्वाद और इच्छा के अनुरूप हो। इस तरह वे ईश्वर को माया के घने आवरण में पूरी तरह ढक देते हैं। फिर वे ऐसे ईश्वर की ही पूजा करते हैं और फलस्वरूप उस माया में ही डूब जाते हैं, या यों कहिए कि स्थूल माया के ही पुजारी बन जाते हैं। अब अगर कोई उन्हें सच्ची बात समझाने जाता है तो उसे ठग समझ कर वे दूर भाग खड़े होते हैं। वे उन 'महात्माओं' को ज्यादा पसन्द करते हैं जो स्वयं माया के अनेक रंगों में रँगे होने से उन्हें पसन्द पड़ने वाली रंगीली चीजें ही बताते हैं। बहुधा गलती यही होती है कि लोग इन अत्यन्त महत्वपूर्ण बातों पर बिल्कुल ध्यान नहीं देते, और ऐसों से मुक्ति चाहते हैं जिन्हें स्वयं मुक्ति मिली ही नहीं। वास्तव में इनमें से अधिकांश में मुक्ति की बिल्कुल चाह भी नहीं होती। वे देवी-देवताओं से भी केवल सांसारिक स्वार्थ साधने की दृष्टि से ही चिपके रहते हैं। कुछ ऐसे भी होंगे जो प्रसंगवश ईश्वर की पूजा भी कर लेते हैं। पर वह भी केवल स्वार्थ की पूर्त्ति के उद्देश्य से ही। वास्तव में वे इस प्रकार की आध्यात्मिक शिक्षा पाने के लायक ही नहीं होते और न उनमें इसकी क्षमता ही होती है। सच तो यह है कि जब हम लोग 'एकत्व' की ओर बढ़ते हैं तब वे लोग लगातार 'अनेकत्व' की ओर घिसटते जाते

हैं और अपनी विचार-शक्ति को अनेक धाराओं में बिखराते रहते हैं। इस तरह अनेक ओर बिखराई हुई विचार-शक्ति कमजोर होकर क्षत-विक्षत हो जाती है और ईश्वर प्राप्ति के प्रयत्न विफल हो जाते हैं। साधारणतया मैं ऐसे लोगों को सत्संग में शामिल नहीं करता क्योंकि मुझे निश्चय है कि उन पर किया हुआ सारा परिश्रम बेकार जायगा। अतएव ऐसों पर अपना समय बर्बाद करने के बजाय मैं उसका सदुपयोग उनकी आध्यात्मिक उन्नति के लिए करना चाहता हूँ, जिनमें उसकी लगन हो।

हमारी साधना-पद्धति में केवल ईश्वर–एक मात्र पारब्रह्म-की सच्ची पूजा के अतिरिक्त और किसी भी वस्तु की जरा भी गुंजाइश नहीं है। इसका अनुसरण देवी-देवताओं को साथ में लेकर किसी प्रकार भी नहीं हो सकता। अगर कोई उन्हें छोड़ने में असमर्थ हो तो मैं उसे बाध्य नहीं कर सकता। पर ऐसी स्थिति में उसकी प्रगति की जिम्मेदारी मेरी नहीं मानी जा सकती। अगर वे ऐसी वस्तुओं को नहीं छोड़ सकते जिनकी कोई जरूरत नहीं है तो फिर वे दूसरों के पास अन्य उपाय ढूँढ़ने जाते ही क्यों हैं? उनके अन्य उपायों और पद्धतियों के पीछे भटकने से यह साफ जाहिर होता है कि उन्हें अपने चालू मार्ग में भी दृढ़ विश्वास नहीं है; और अपने दिल की तह में उन्हें कोई गलती या कमी महसूस होती है। उनके लिए एक मात्र रास्ता यही है कि कुछ समय तक सच्चे दिल से ईश्वर से प्रार्थना करें कि

उसकी कृपा से उन्हें सही रास्ता दिखाई पड़े। साधना के क्रियात्मक पक्ष के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम आध्यात्मिक प्रशिक्षण प्राप्त करें जिसके लिए सही ढंग का मार्ग दर्शन मिलना चाहिए। पुस्तकों से लिया हुआ मार्ग-दर्शन बहुत कुछ लाभकर नहीं होता, क्योंकि उससे बहुधा भ्रम पैदा होता है और कभी-कभी वह जोखिमवाला भी हो सकता है। पुस्तकों में दिये हुए उपाय बहुधा भ्रमोत्पादक होते हैं क्योंकि वे विषय को केवल सतही तौर पर स्पर्श करते हैं। केवल किताबों में लिखे औषधियों के नाम और गुण-धर्म पढ़ लेने से कोई किसी भी हालत में वैद्य नहीं बन सकता। उसी तरह ईश्वर, आत्मा और रास्ते में आने वाली विभिन्न आध्यात्मिक स्थितियों की बाहरी भौतिक जानकारी प्राप्त कर लेने मात्र से कोई वास्तव में लक्ष्य तक पहुँचने का दावा कदापि नहीं कर सकता। आम के स्वाद की पूरी समझ केवल किताब में लिखे वर्णन पढ़ने से कभी नहीं आ सकती। एक प्रसिद्ध कहावत है कि 'हलुए (**Pudding**) का स्वाद तो खाने से ही मालूम पड़ेगा।"

आजकल के धर्म गुरु जो लोगों को राह दिखाने का दम भरते हैं उनसे ऐसी ही चीजें कराते हैं, और प्रगति के झूठे वादे करते रहते हैं। लोग भी स्वयं यह समझने या पता लगाने की कभी कोशिश नहीं करते कि बतायी हुई क्रियाएँ उनके शारीरिक, मानसिक या आध्यात्मिक किसी भी प्रकार के विकास से सम्बन्ध रखती हैं या किसी से भी नहीं। अधिकांशतः जब उन्हें

प्रगति किया हुआ समझा जाता है तब भी, वे जीव, माया, ब्रह्म आदि को लेकर दार्शनिक वाद-विवादों में और अधिक उलझे पाये जाते हैं। जब भी लोग बिना गम्भीरता के कोई लक्ष्य लिये बिना किसी 'महात्मा' के 'दर्शन' करने जाते हैं, तो बहुधा इन्हीं विषयों की चर्चा होती है। प्रश्न यह उठता है कि इन पहेलियों का उत्तर अगर मिल भी जाय तो भी उनकी आध्यात्मिक प्रगति में वह कहाँ तक सहायक होगा। मेरे खयाल से उत्तर निश्चित रूप से होगा 'कुछ भी नहीं'। फिर उनके लिए इसका क्या मूल्य होगा? यह केवल मानसिक तर्क की कलाबाजी के अलावा और कुछ नहीं होता।

अधिकांश लोग अँधेरे में भटक रहे हैं। वे पत्थरों को देवता या उनका रूप समझते हैं। उनकी विवेक बुद्धि नष्ट हो चुकी है। वे एक मनुष्य तथा दूसरे मनुष्य के बीच का, या मनुष्य एवं अन्य जीवों के बीच का अन्तर भी नहीं समझ सकते। मानव कौन है? वही जो मानवता की भावना से पूर्ण हो। परन्तु वास्तविक मानव सही अर्थों में वह है, जो मानव को पूर्ण मानव, अर्थात जैसा वह वास्तव में होना चाहिए, वैसा बना सके। उसकी पहचान कैसे हो सकती है? वह कोई असाधारण चमत्कार या करिश्मे दिखलाने वाला जादूगर या मदारी नहीं होता। लेकिन 'भक्तों' की जमात के बीच में ऐसे कई बाजीगर मिल जायेंगे जो कुछ भी न होते हुए भी बहुत कुछ होने का स्वांग रचते हैं। वह माला के हर मनके पर 'राम राम' रटते रहते हैं जबकि उनका दिल उससे कोसों दूर भटकता रहता है।

अधिकांश लोग भक्ति के भजन गाते और 'जय, जयकार' करते मिलेंगे। चित्रों और प्रतिमाओं की विधि-उपचार के साथ पूजा करना उनका दैनिक शौक है। उनके लिए कथा व दृष्टान्त आदि भक्ति के साधन हैं; आप्त पुस्तकों का पाठ ही पूजा है; और प्रवचन, विवेचन करना, ज्ञान प्राप्ति मान लिये गये हैं। गुरुओं और उपदेशकों की भी कमी नहीं है। किसी के पास भी जाइये, वह कुछ न कुछ अनुसरण करने को बता ही देगा। इन सब की चिल्ल-पों इतनी बढ़ गई है कि सारा आसमान कोलाहल से गूँज रहा है। पर सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि इतना सब कुछ होकर भी उनके हृदय पर इसका थोड़ा भी प्रभाव परिलक्षित नहीं होता, और सारी चिल्ल-पों के बाव-जूद भी वे वहीं के वहीं हैं, जहाँ थे। न तो उन्होंने वह पाया जो पाना चाहिए था और न कुछ भी छोड़ा जो छोड़ना चाहिए था। भक्ति के दिखावे का स्वांग करके रोये, गाये, चिल्लाये और खुशामद की, परन्तु मतलब न सरा कुछ भी। फिर भी वे अपने को भक्त समझते हैं, महात्मा के रूप में उनकी प्रशंसा होती है। इस तरह उन्हें अपनी सारी नट लीला का एक तरह से, पारिश्रमिक अवश्य मिल गया। उन्हें उच्च स्थान प्राप्त हो गया और अपनी भक्त मंडली में वे मार्ग-दर्शक और गुरु माने जाने लगे। अपनी चाटुकारिता के फलस्वरूप उन्हें यही सब कुछ मिल पाया।

यह कहना अनुचित नहीं होगा कि साधारणतया जनता

जिन पूजा के प्रकारों का अनुसरण करती है वे अधिकांशतः एक या दूसरी तरह की चाटुकारिता ही होते हैं। उनमें लगन, प्रेम या समर्पण की भावना तनिक भी नहीं रहती। बिल्कुल स्पष्ट है कि जो भी वे करते हैं वह सब देवताओं को प्रसन्न करने के बजाय अपने स्वयं की प्रसन्नता के लिए होता है। यह सब इन्द्रियों से सम्बन्धित होने के कारण बहुत निम्न कोटि की इच्छा है। दूसरे शब्दों में वे लगातार अपनी इन्द्रियों में ही उलझे रहते हैं और इसी को वे आनन्द मान बैठते हैं, स्पष्टतः यह विचार बिल्कुल निरर्थक है। इस कारण इतने परिश्रम-पूर्वक नाटक करने के बावजूद भी वे ईश्वर की असीम कृपा से हमेशा के लिए बिल्कुल वंचित ही रहते हैं।

यह सब वर्णन करने में मेरा एक मात्र उद्देश्य यही है कि आपको स्पष्टतया समझ में आ जाय कि चाटुकारिता के बाहरी प्रदर्शनों का हृदय में स्थित अन्तश्चेतना की जागृति के लिए जरा भी मूल्य नहीं है। यह सब केवल इन्द्रियों से सम्बन्धित सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए होते हैं जिनका वास्तव में कोई अन्त नहीं; क्योंकि जैसे ही एक इन्द्रिय इच्छा पूरी होती है शीघ्र ही उससे जुड़ी हुई दूसरी उठ खड़ी होती है। ये तमाम साधनाएँ हमें इच्छा-कामना के जंजाल से मुक्त होने का उपाय कभी नहीं बता सकतीं। इसलिए इनसे कोई व्यावहारिक उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता।

सच्ची भक्ति इन्द्रियों से सम्बन्धित भौतिक इच्छाओं से बिल्कुल रहित होती है। वह तो एक ऐसी सच्ची लगन से उत्पन्न होती है जो परिपूर्ण हो जाने पर किसी दूसरी इच्छा को जन्म नहीं देती बल्कि सारी कामनाओं का अन्त कर देती है। वह वास्तविक अर्थ में हमारे उस घर की याद है जो हमारी यात्रा का अन्तिम विराम-स्थान है। उस घर की याद से ईश्वर की, और ईश्वर की याद से इस घर की याद हमारे हृदय में बराबर जीवित रहती है, यह तो एक अटल नियम है। यह एक ऐसा अन्त है जो अनन्त है, और इसकी चाह, इन्द्रियों की तो बात ही कहाँ, भौतिकता की सीमा से भी कहीं परे की वस्तु होती है। साधारणतया इसी को साक्षात्कार, सारूप्य, लय हो जाना, लक्ष्य या अन्तिम विराम तक पहुँच जाना मानते हैं।

इससे जुड़ जाने को ही, दूसरे शब्दों में, 'सतत-स्मरण' कहते हैं, और यही भक्ति का वास्तविक अर्थ है। अगर ऐसा नहीं है तो बाकी सब मजाक या ढकोसला है जिसे केवल चाटुकारिता कह सकते हैं। चाटुकारिता करने वाले और कराने वाले दोनों का अहित करती है। जिस राजा के चारों ओर सब चाटुकार हैं उसका इसी से पतन होना निश्चित है। इसलिए इस बुराई को दूर करने के लिए राजा को कड़े उपाय करने चाहिए। इस तरह के काम के लिए सम्भवतः प्रकृति ने भी कोई रास्ता अपनाया हो। उसका फल उपयुक्त समय पर अपने आप प्रकाश में आ जायेगा।

———

उपाय

ईश्वर-साक्षात्कार के अनेक उपाय और रास्ते बतलाये गये हैं। उनमें से हमें ऐसा चुनना है जिससे सफलता निश्चित रूप से एवं शीघ्र मिल सके। अब वह कौन सा है, यह हर एक को अपने आप जाँच कर तय करना है। संकेत के रूप में मैं इस विषय में स्वामी विवेकानन्द का न्यायसंगत अभिमत आपके सामने रखता हूँ। "केवल मात्र राजयोग ही सफलतापूर्वक मनुष्य को उन्नति के उच्चतम शिखर तक पहुँचा सकता है। और 'प्राणाहुति' के द्वारा अपनी अन्तःशक्ति का उपयोग करने की क्षमता रखने वाला ही पथ-प्रदर्शक या सद्गुरु बनने योग्य है।"

मैं आपको बिश्वास दिलाता हूँ कि हठयोग की पहुँच 'आज्ञाचक्र' से आगे नहीं है। इसके अलावा उसमें एक बड़ी भारी कमी और है। जब हम हठयोग के शारीरिक व्यायाम से शुरुआत करते हैं, तब हमारे अपने शारीरिक प्रयत्नों की चेतना के साथ-साथ पृष्ठभूमि में 'अहम्' का विचार भी बराबर बना रहता है। इससे अहम् भाव घटने के बदले उत्तरोत्तर बढ़ता चला जाता है। परन्तु राजयोग में ऐसा नहीं होता। वहाँ हम सूक्ष्मतम तरीकों से मन की अत्यधिक चंचल वृत्तियों

को शान्त करने से आरम्भ करते हैं। साथ ही इसका अभ्यास करते समय हम हमेशा देहभाव से दूर रहते हैं, क्योंकि हमारा ध्यान सूक्ष्मतम पर दृढ़ता से केन्द्रित रहता है।

गृहस्थाश्रम परमार्थ लाभ में बाधक नहीं है। मेरे विचार से तो यही वह सर्वोत्तम आश्रम है जिसमें उच्चतर प्रगति सरलता से सम्भव होती है। मैं स्वयं गृहस्थ हूँ और मेरे पूज्य गुरुदेव भी गृहस्थ थे। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि एक पूर्ण सन्त केवल इसी आश्रम में मिल सकता है। हम अपना कर्त्तव्य करते हैं और हमेशा उसे अन्तिम वास्तविकता के रूप में याद रखते हैं। कर्त्तव्य-पालन स्वयं ही पूजा है, यदि यह विचार मन में बना रहे कि वह ईश्वर की आज्ञा है।

हृदय पर ध्यान करने की पद्धति यह है कि हम सोचते हैं कि वहाँ ईश्वरीय प्रकाश विद्यमान है। जब आप इस प्रकार के ध्यान का आरम्भ करें तब एक ही बार सोचिये कि भीतर की ईश्वरीय ज्योति आपको आकर्षित कर रही है। अगर ध्यान के दौरान बाहर के विचार आते रहें तो परवाह मत कीजिये। उन्हें आने दीजिये और अपना काम जारी रखिये। सबेरे एक घंटा बिल्कुल स्वाभाविक भाव से सहज आसन में ध्यान में बैठिये। यदि आप इस प्रक्रिया का दर्शन जानना चाहें तो वह मैं आपको कुछ समय बाद बतलाऊँगा। आप को केवल ध्यान करना चाहिये। ध्यान के बीच में साधारणतया आने वाले विचारों से संघर्ष मत कीजिए। एकाग्रता ध्यान करने का फल

है। जो ध्यान करने के लिये एकाग्रता चाहते हैं, और उस तरफ मस्तिष्क को जबरदस्ती मोड़ देते हैं, वे सामान्यतया असफल होते हैं। यह याद रखने की बात है कि यह साधना करते समय मस्तिष्क पर बहुत जोर-जबरदस्ती न करना चाहिये। केवल सामान्य रूप में बैठना चाहिये। प्रातःकाल स्वाभाविक रूप से सहज आसन में एक घंटे ध्यान में बैठिये। प्रातःकाल के भोर में बैठना अधिक लाभप्रद होता है। पर यदि यह सम्भव न हो तो अभ्यासी को जिस समय सुविधा हो, नियमित रूप से, उसी समय बैठे। बाहरी चीजों से घबड़ायें नहीं; अपितु अपने काम में लगे रहें, और यह सोचें कि वे आपको ध्यान में अधिकाधिक लय प्राप्त करने की आवश्यकता समझने में सहायक हो रहे हैं।

शाम को उसी सहज आसन में आधे घंटे तक फिर ध्यान में बैठें और कल्पना करें कि सारी उलझनें, पुराने विचारों के जाल तथा शरीर की स्थूलता या ठोसता पिघल रही है, और पीठ की ओर से धुँआ बनकर निकलती जा रही है। इससे हमारे मन की शुद्धि में मदद मिलेगी और हमारे पूज्य गुरुदेव का अमोघ प्रभाव ग्रहण करने की हमारी पात्रता बढ़ेगी। जैसे ही मैं देखूँगा कि आप अनावश्यक भौतिक तत्त्व से मुक्त हो रहे हैं, मैं आवश्यक कार्यवाही तुरन्त प्रारम्भ कर दूँगा। चक्रों और उनके उपकेन्द्रों को जागृत और शुद्ध करते हुए हम ऊँची उड़ान भरते हैं। अन्त में कुण्डलिनी को भी लेते हैं, पर उससे स्वयं अभ्यासी को कुछ लेना-देना नहीं होता। वह पूर्णतया एकमात्र पूज्य सद्गुरु की इच्छा पर निर्भर है।

मेरे पूज्य गुरुदेव की सी उच्च क्षमता वाले पथ-प्रदर्शक के लिए आध्यात्मिकता प्रदान करने में कुछ भी समय नहीं लगता। अधिकांश समय अभ्यासी को तैयार करने में ही लगता हैं। हमें अपना अभ्यास श्रद्धा और विश्वास के साथ चालू रखना चाहिये और तब वांछनीय वस्तु अपने आप हमारे पास आ जायगी।

मैं विभिन्न संस्थाओं के प्रमुखों से कई बार मिला हूँ। यह मेरे लिए अत्यन्त आश्चर्य और दु ख की बात है कि सभी जगह मुझे प्राणाहुति विलुप्त मिली, यहाँ तक कि उनमें से अधिकांश के लिए तो यह बिल्कुल विचित्र थी। स्वामी विवेकानन्द जी इस शक्ति से सम्पन्न थे, पर उनके सदृश विभूतियाँ हमेशा बहुत ही बिरल रही हैं। मेरे पूज्य गुरुदेव के सदृश विशिष्ट विभूति भी संसार में अचानक उत्पन्न नहीं होती। वे तभी अवतरित होती हैं जब संसार आँख लगाये उनकी राह देखने लगता है। ऐसी महान् विभूति या अवतारी पुरुष देहधारी बनकर संसार में उपासना के उपायों और पद्धतियों का समय की आवश्यकता-नुसार पुनर्गठन या पुनर्निर्माण करने आते हैं। भगवान् कृष्ण के बारे में यही बात थी। वे अपने युग के एक बहुत बड़े समर्थ गुरुवर्य थे और उन्होंने भी यही कार्य सम्पन्न किया। मेरे पूज्य गुरुदेव ने भी राजयोग की प्रणाली को आज के युग के अनुकूल सुधार-सँवार कर ठीक किया। आध्यात्मिक क्षेत्र में उनकी सबसे अद्भुत खोज अभ्यासी की 'केन्द्रीय क्षेत्र' तक पहुँच से सम्बन्धित है जिसका उल्लेख Efficacy of Raj Yoga में किया

गया है। मैं अपने परम पूज्य गुरुदेव के चरण-चिन्हों का ही अनुसरण कर रहा हूँ।

अक्सर लोग मुझे कहते हैं कि मैं उनमें उच्चतम ईश्वरीय शक्ति या ऊर्जा एकदम से प्रविष्ट करा दूं। सच तो यह है कि मैं स्वयं ऐसा करने को हमेशा उत्सुक रहता हूँ। पर दुःख है मुझे कभी ऐसा अभ्यासी नहीं मिलता जिसमें उसे आत्मसात् करने की अपेक्षित क्षमता हो। जितनी भी देरी होती है उसका कारण यही कमी है। इसके लिए मुझे कंजूस कह कर दोष देना किसी प्रकार से भी उचित नहीं है। मेरे पास जो कुछ भी है वह सब मनुष्य मात्र के लिए है। बिना किसी भेद-भाव या रोक-टोक, अध्यात्म का दूर-दूर तक चारों दिशाओं में प्रसार करने का पवित्र वचन मैंने अपने गुरुदेव को गुरुदक्षिणा के रूप में दिया था। उसे मैं पूर्ण करने को बाध्य हूँ। मैं अब यही कार्य कर रहा हूं, और अपने समस्त जीवन भर उसे करता रहूँगा। इसलिए आपको निराश नहीं होना चाहिए। अगर आपने अपने को सचमुच मुझे सौंप दिया है तो मैं वचन देता हूँ कि पूर्णता प्राप्त करने में मैं आपकी पूरी सहायता करूँगा। हाँ साथ ही यह आवश्यक है कि आप भी अपना आवश्यक कर्तव्य करना न चूकें।

मन किस तरह व्यस्त रखना है इस विषय में मैं आपको एक बात बताता हूँ जिसका मैंने अपने अभ्यास के दौरान प्रयोग किया था। मेरे गुरुदेव ही मेरे स्वामी और सर्वस्व थे, जैसे आज भी

हैं। मैं अपने हृदय में और बाहर भी उनकी आकृति पर ध्यान करता था। पर मैं आपको ऐसा करने का अनुमोदन नहीं करता क्योंकि आपने उन्हें नहीं देखा है। इस साधन से मुझे जो लाभ मिला वह शब्दों में अवर्णनीय है। कुछ लोग शायद इसमें आपत्ति उठायें, हालाँकि पतंजलि के 'योग-दर्शन' का ३७वाँ सूत्र इसका पूरा समर्थन करता है। (वीतरागबिषयम् वा चित्तम्—१-३७)। मैं संत लोगों के चित्रों पर ध्यान करने के पक्ष में बिल्कुल ही नहीं हूँ। परन्तु ईश्वर का सतत्-स्मरण आध्यात्मिकता का एक विशेष अंग है। वही मैं आपके लिये अनुमोदित करता हूँ। दिन-प्रति-दिन के अभ्यास के साथ-साथ आप इसका भी प्रयोग करें। सतत-स्मरण का विकास करने का उपाय यह है कि कार्यालय में, घर में, रास्ते में, बाजार में जहाँ भी आपको अवकाश हो दृढ़ विश्वास पूर्वक यही कल्पना कीजिए कि ईश्वर का प्रसार सर्वत्र और सबमें हो रहा है और आप उसी का चिन्तन कर रहे हैं। जितने भी लम्बे समय तक आपसे बन सके, इसी विचार में डूबे रहने की कोशिश कीजिए।

मुझे यह जानकर खुशी है कि आप 'वैराग्य' की स्थिति तक पहुँचने को उत्सुक हैं। आप निःसन्देह उसे प्राप्त कर सकेंगे पर पर्याप्त शुद्ध हो जाने के बाद। यह बहुत कुछ स्वयं आप पर भी निर्भर है और सायंकालीन (शुद्धि का) अभ्यास इसी के लिए बतलाया गया है। मेरा विचार है कि आपकी आध्यात्मिक

प्रगति हो रही है, जिसे समझने की एक पहचान आपको बतलाता हूँ। आपको अपने में थोड़ा बहुत हलकापन जरूर अनुभव होता होगा। इस चिन्ह से पता चलता है कि धीरे-धीरे गुत्थियाँ और जड़ता पिघलती जा रही हैं और आध्यात्मिक शक्ति आप में प्रवाहित हो रही है। इसका अनुभव करने की कोशिश करिये और उसकी सूचना मुझे दीजिये। अगर दिन में आपको ध्यान के लिए समय न मिलता हो तो रात में सोते समय या मध्य रात्रि के पश्चात् (थोड़ी देर सो लेने के बाद) करिये, जब चारों ओर वातावरण में सब कुछ नीरव और शान्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में पहले सायंकालीन सफाई की क्रिया से आरम्भ कीजिये। करीब पन्द्रह मिनट तक यह कर लेने के बाद लगभग घंटे भर तक बताये गये अनुसार ध्यान कीजिये।

भूतकाल में किये कर्मों पर सोच-विचार कर हमें अपने को निर्बल नहीं बनाना चाहिए। हमें सदैव परमोच्च की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिये ताकि हमारा भविष्य उज्जवल बन सके। सांसारिक जीवन में सभी परिस्थितियों का सुविधापूर्ण और अनुकूल होना बहुत कठिन है। हमें यथासम्भव अपने आपको उनके साथ ताल-मेल करने का प्रयत्न करना चाहिए ताकि उनका हमारे पूरे-पूरे भले के लिए उपयोग हो सके। ऐसी परिस्थितियों में भी सतत्-स्मरण से आपको बड़ी मदद मिलेगी। गृहस्थी की परेशानियों का मसला सभी जगह टेढ़ा और उलझा हुआ होता है परन्तु हमें उसे जैसे-तैसे भी चला लेना तो है ही।

प्रतिदिन के अभ्यास में एक चीज और सम्मिलित करनी है। रात को सोते समय नीचे लिखी छोटी सी प्रार्थना भी प्रतिदिन अवश्य करनी चाहिए। प्रार्थना पूरे याचक भाव और ईश्वरीय प्रेम से भरे हुए हृदय के साथ करनी चाहिए।

"हे नाथ ! तू ही मनुष्य जीवन का अन्तिम ध्येय है।
हमारी इच्छायें हमारी उन्नति में बाधक हैं।
तू ही हमारा एक मात्र स्वामी और इष्ट है।
बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है॥"

इस प्रार्थना को मन ही मन एक दो बार दोहराइये, और उसी पर कुछ मिनट तक ध्यान कीजिये।

प्रार्थना इस प्रकार करनी चाहिए जैसे कोई अत्यन्त दीनहीन व्यक्ति अपने कष्टों को अत्यन्त विषादयुक्त हृदय से सद्गुरु ईश्वर के सम्मुख रख रहा हो तथा अश्रुपूरित नेत्रों से उसकी दया और कृपा की याचना कर रहा हो। तभी वह आध्यात्मिकता का सुपात्र जिज्ञासु हो सकता है।

हमेशा, होता है वही जो मन्जूरे खुदा होता है, क्योंकि वही हर कार्य का वास्तविक कर्त्ता है। कठिनाई तभी खड़ी होती है, जब हम उसे अपनी इच्छा से या क्रिया से जोड़ लेते हैं और मान लेते हैं कि वह हमारे प्रयत्नों के फलस्वरूप हो रहा है। जब सफलता मिलती है तब हम खुशी से फूल उठते हैं, पर जब सफलता प्राप्त नहीं होती तो दुःखी हो जाते हैं। यही एक चीज है जो हमें बन्धन में डाले रखने का काम करती है। इस अहंमय भावना की समाप्ति का अर्थ वास्तविक सशक्त जीवनशक्ति का

प्रारम्भ है। यह कैसे प्राप्त हो सकता है? केवल मात्र हमारे 'स्व' को ईश्वर की महान शक्ति से जोड़ देने से। ऐसा करते-करते हम एक पर एक मंजिल पार करते हुए उसके समीप और समीपतर होते चले जाते हैं। दुःख की बात है कि सर्वोत्कृष्ट से अपने को जोड़ने का प्रयत्न करने वाले बहुत कम लोग मिलते हैं। पूर्ण निषेध की स्थिति प्राप्त करने की तो बात ही क्या करना। इसके लिए पूर्ण समर्पण ही एकमात्र रास्ता है। हालाँकि यह मार्ग बहुत कठिन है, विशेष कर उनके लिए जो अपने ही बोझ से दबे पड़े हैं।

अनुशासन समर्पण की प्रारम्भिक सीढ़ी है। आरम्भ में अगर मानसिक अनुशासन का पालन सम्भव न हो तो कम से कम शारीरिक अनुशासन से प्रारम्भ किया जा सकता है। इसके बाद जब गुरु की सामर्थ्य का पूरा सिक्का मन पर जम जाय, और शिष्य भी वास्तविकता का सही जिज्ञासु हो तो मानसिक समर्पण का विकास अपने आप होने लगेगा। जब उसने सीढ़ी की सबसे नीची पायरी पर पाँव रख दिया तो उसके बाद वाली अपने आप नजर आने लगेगी। जब इस तरह अभ्यास किया जायगा तो प्रेम और लगन स्वतः ही विकसित होने लगेंगे, विशेषकर जब सद्गुरु के गुणों में पूर्ण विश्वास बैठ गया हो। मुझे ठीक से पता नहीं कि मेरे सभी सहयोगी अभ्यासियों में ईश्वर साक्षात्कार की प्यास है या नहीं। यदि है तो ये चीजें उनमें जरूर अपने आप विकसित हो गई होंगी। उनके हृदय में इसके

लिए तीव्र रुचि होनी चाहिए। वह तभी होती है जब कोई अपने को अन्तिम लक्ष्य के साथ दृढ़ता से जुड़ा हुआ अनुभव करने लगता है। कुछ लोग मेरे पास सिर्फ इसलिए बैठते हैं कि उनका मन थोड़े समय के लिए तो शान्त बना रहे। मेरे लिए यह भी कुछ हद तक लाभ की बात हो सकती है, क्योंकि इस प्रकार मैं उन्हें कुछ समय के लिए ही सही, थोड़ा बहुत आराम तो दे सकता हूँ। परन्तु केवल उतना ही पर्याप्त नहीं है। कुछ ऐसे भी हैं जो किसी प्रकार की भी आध्यात्मिकता का तो विचार नहीं रखते, पर मुझसे केवल मित्रता या भाईचारे का सम्बन्ध रखना चाहते हैं। यह भी मेरे लिए कोई छोटी मोटी बात नहीं है, क्योंकि जब मैं किसी को अपने दिल में मेरे प्रति प्रेम रखते पाता हूँ तो मुझे बड़ा आनन्द होता है, और मैं ताजगी अनुभव करने लगता हूँ। परन्तु मेरे लिए इस तरह की भावना रखने की भी कोई क्यों परवाह करे जब कि दुनियाँ में उनकी चाहत या प्रेम के लिए ढेर सारी चीजें मौजूद हैं ? जो या तो स्वयं अपने को खो चुका है, या खोया जाना पसन्द करता है, या सर्वस्व खोने को तैयार है, सिर्फ ऐसा ही कोई संभवतः मेरी तरफ झुकाव रखने वाला निकल आवे। मेरे मन की वृत्ति कुछ अजीब सी है। अपने आपको पूरी तरह खोकर मैं अब चाहता हूँ कि दूसरे मुझे अब खोज निकालें। मैं मानता हूँ कि कोई भी समझदार आदमी ऐसा करने को कभी तैयार नहीं होगा। शायद यही कारण है कि मैं औरों के हृदय में भावना जगाने में असमर्थ रहता हूँ क्योंकि मुझमें से मेरी हस्ती की तरह भावना भी मिट

चुकी है। जब हालत ऐसी है, तो मुझे खोज निकालने के लिए मुझमें और बचा ही क्या है, जिन चिह्नों से मेरा पता लगाने में उन्हें सहायता मिलती ? यह विचार कुछ और स्पष्ट तब होगा, जब किसी पर उसी प्रकार की आध्यात्मिकता का नशा चढ़े।

———

एकाग्रता

साधारणतः एकाग्रता का अर्थ मस्तिष्क की चेतन क्रियाशीलता का स्थिर हो जाना लिया जाता है, परन्तु एकाग्रता के अन्तर्गत जो भाव है उसकी यह सही अभिव्यक्ति नहीं है। इस एकाग्रता का तात्पर्य है बाह्य (शारीरिक) प्रयत्न जो प्रत्येक को जाने-अनजाने रूप से करने पड़ते हैं। बहुधा व्यक्ति किसी विशेष स्थिति के जिसे वह एकाग्रता कहता है चेतन विचार के साथ आगे बढ़ता है। सामान्यतया व्यक्ति इसे (एकाग्रता को) एक अस्वाभाविक गहरी निद्रा के भाव के रूप में ग्रहण करता है, जो इन्द्रियों के अस्थायी निलम्बन के कारण उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार यह एक प्रकार के बेहोशी की दशा के समान है जैसे किसी मादक द्रव्य द्वारा सुलाने का प्रभाव होता है। सम्भवतः इसी कारण तथाकथित महात्मा लोग बहुधा भांग, चरस, और गाँजे के आदी पाये जाते हैं।

सामान्यतया गुरु अभ्यासी को एकाग्रता का अभ्यास ध्यान के प्रथम सोपान के रूप में बतलाते हैं और अभ्यासी उसी की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है। परन्तु अनेक वर्षों के अथक श्रम के बावजूद भी वह शायद ही कभी अपने लक्ष्य को प्राप्त कर पाता है। ऐसा क्यों है ? इसके कारण का सम्बन्ध अभ्यासी की किसी

कमी से नहीं है, बल्कि शिक्षक की कमी है जो पुस्तकीय ज्ञान के आधार पर अभ्यासी का साक्षात्कार के व्यावहारिक मार्ग का मार्ग-दर्शन करता है। वास्तविकता यह है कि सारी निर्धारित विधि पूरी तौर पर अस्वाभाविक तथा बनावटी है और लक्ष्य-प्राप्ति के लिए जितने साधन अपनाये गये हैं वे सभी पार्थिव व ठोस हैं। फल यह होता है कि सूक्ष्मता की ओर आगे बढ़ने की जगह वे अपने मन में अधिक से अधिक ठोसता व स्थूलता धारण करते चले जाते हैं और अन्त में दुर्भेद्य चट्टान की भाँति हो जाते हैं।

एकाग्रता को यदि मस्तिष्क के निलम्बन के रूप में अभि-व्यक्त किया जाय, तो व्यक्ति को निश्चय ही अपने में अचेतनता की दशा उत्पन्न करने का प्रयत्न करना होगा। इस उद्देश्य के लिए जिस शक्ति की आवश्यकता है वह निश्चय ही भौतिक शक्ति होगी जो पदार्थ के संयोग से कार्य करती है। इस प्रकार लक्ष्य-प्राप्ति के लिए की गयी समस्त क्रिया वास्तविक रूप से भौतिक प्रयत्न मात्र रह जाती है। उस स्थिति में एकाग्रता का सम्बन्ध स्थूल मानस के उस चेतन स्तर से सम्बद्ध हो जाता है जिसकी क्रियाशीलता स्थूल शक्ति के प्रयोग से अस्थायी रूप से दब जाती है। व्यावहारिक दृष्टान्त इस बात के प्रमाण हैं कि जो इस प्रकार से विकसित दशा द्वारा समुन्नत हो चुके हैं वे आन्तरिक रूप से इतने स्थूल और ठोस हो जाते हैं, कि वे पूर्णरूप से हल्के से सूक्ष्मतर प्रभाव ग्रहण करने के लिए असंवेदनीय हो

जाते हैं। वह एकाग्रता जो विचारों को बरबस दबाने से उत्पन्न होती है मस्तिष्क पर अपना बोझिल प्रभाव छोड़ देती है। इस कार्य के लिए जो शक्ति प्रयोग की जाती है वह स्थूल शक्ति होने के कारण स्वयं अपनी गुरुता उत्पन्न कर देती है। इस प्रकार एक शब्द में एकाग्रता की दशा जो मूर्च्छा की दशा के भाव में व्यक्त की जाती है, मूलरूप में ही त्रुटिपूर्ण है। क्योंकि वह व्यक्ति को पदार्थ से सम्बन्धित रखती है। इस अर्थ में एकाग्रता की तुलना उचित रूप में दलदल की दशा से की जा सकती है, जिसमें गहरे डूबने से अपने को निकाल पाना बड़ा कठिन है। वह अपने को इसमें गहरे डूबने से तब तक नहीं बचा सकता जब तक दण्ड सदृश न पड़ जावे तथा अपने सारे प्रयास न छोड़ दे। जो इस दशा से अग्रसर होते हैं वे स्थूलता सहित आगे जाते हैं। यह उनको भौतिक लक्ष्यों की प्राप्ति में कुछ हद तक सहायक हो सकती है और उनमें संमोहन की शक्ति का विवर्द्धन कर देती है। परन्तु शुद्ध आध्यात्मिक प्रयत्नों में यह बिल्कुल सहायक नहीं है।

लोग एकाग्रता की साधना इसलिए पसन्द करते हैं कि वह इन्द्रियों को सुखद प्रतीत होती है। स्पष्ट है कि इससे आध्यात्मिक प्रगति में किसी प्रकार की मदद नहीं मिल सकती। एकाग्रता का सीधा सम्बन्ध विचारों के दबाने से है। वास्तव में यह विचार हमारे मन में 'हिप्नोटिज्म' तथा 'मेस्मेरिज्म' (संमोहन विद्या) को देखकर उत्पन्न हुआ, क्योंकि उनमें आदि

से अन्त तक केवल भौतिक शक्ति का ही उपयोग रहता है। इससे कोई आध्यात्मिक लक्ष्य सिद्ध नहीं होता। इससे किसी वस्तु की प्रकृति या विशेषता का पता लग सकता है। फिर भी उनकी प्राप्ति में जरा भी मदद नहीं मिलती। इसलिए यह ईश्वर-प्राप्ति का माध्यम नहीं बन सकता, उल्टे व्यक्ति को परम-तत्त्व से दूर ले जाने की प्रवृत्ति है। ध्यान की आधारशिला विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक है जबकि 'एकाग्रता' की नींव अहंकार पर पड़ी हुई है। जब आप 'एकाग्रता साधने' की कोशिश करते हैं, तब 'आप' तो अवश्य ही वहाँ मौजूद हैं। परन्तु जब ध्यान करते हैं तब आप किसी उच्च वस्तु की प्रतीक्षा करते हैं। इसलिए इसमें 'अहम्' के विचार से आप दूर रहते हैं।

अतः एक जिज्ञासु के लिए उचित बात यही है कि वह एकाग्रता शब्द के भाव पर ध्यान दिये बिना अपने को ईश्वरीय प्रकाश में लय कर दे जो उस तक वास्तविक केन्द्र से आता है। उस दशा में एकाग्रता का प्रश्न ही बिल्कुल नहीं उठेगा, और अभ्यासी उस स्थिति के साथ होगा जिसको न तो एकाग्रता के नाम से पुकारा जा सकता है और न अन्य नामों से। एकाग्रता की निकटता अपनी सब झंझटों के साथ लाभप्रद नहीं है। यह अ-एकाग्रता की ही शक्ति है (जैसा कि मैं इसे पुकारता हूँ) कि वह अभ्यासी को ज्ञान के ऊँचे से ऊँचे मंडल में पहुँचा देती है। इस पथ से बढ़ने वाला अभ्यासी केन्द्र की शक्ति को धारण करता हुआ अपने को दिव्य प्रकाश से प्रकाशित करता जायेगा।

अब अ-एकाग्रता शब्द कौन-सी दशा प्रकट करता है? प्रत्यक्ष रूप में वह विचारों की अतिशयता की दशा से सम्बन्धित प्रतीत होता है, परन्तु इसके दो पहलू हैं—प्रथम, जब विचारों का प्रवाह हमारे चेतन ज्ञान से सम्बन्धित नहीं होता और दूसरा, जब हमें इसकी पूर्ण चेतना होती है और हम इसका प्रभाव ग्रहण करते हैं। विशेष रूप से उस स्थिति में जब कोई व्यक्ति कष्टों या पीड़ाओं के विचार से सम्बद्ध हो तब वह स्थिति निस्संदेह विरक्ति की है। प्रथम दशा में विचारों का प्रवाह बिना रुकावट के लगातार होता है परन्तु मस्तिष्क पर उनके किसी गहन प्रभाव की अनुभूति नहीं होती। सामान्य रूप से मस्तिष्क की यह दशा कभी-कभी ही क्षुब्ध होती है। इन दो पहलुओं को दृष्टि में रखते हुए मैं यह कह सकता हूँ कि अन्तिम दशा ही एकाग्रता की दशा के समान है। अन्तर केवल यह है कि एकाग्रता का लक्ष्य संसार से विरक्ति और असंतोष है, ईश्वरीय विचार नहीं। इस कारण इसे ठोस एकाग्रता माना जा सकता है, जो हमारे अचेतन प्रयत्नों की शक्ति से स्थिर बनी रहती है। दोनों स्थितियों (चेतन और अचेतन प्रयत्नों) में प्रभाव एक समान ही होता है अर्थात् भारीपन, सुस्ती अथवा मन्दता। एकाग्रता शब्द कृत्रिमता के भाव को वहन करता है और इसी कारण उसके लिए प्रयत्न भी अनिवार्य है। जब विचारों का प्रवाह लगातार होता है तो वह बिना प्रयत्न ही होता है, और वह दशा उस दशा के समान होती है जिसे एकाग्रता कहा जाता है। अतः

इसके लिए उचित शब्द अन्तर्शोषण है जो एक स्वाभाविक प्रक्रिया है, और यह उचित प्रकार से, उचित ढंग से किये हुए ध्यान का प्रतिफल है।

एकाग्रता अन्तर्शोषण के अर्थ में (अ-एकाग्रता जिसमें विचारों का प्रवाह तो हो पर मन पर प्रभाव न हो) वास्तविक दशा है। यह विभिन्न स्तरों पर विभिन्न प्रकार की हो सकती है। किसी की एकाग्रता निम्न स्तर की है, किसी की उच्च स्तर की, और किसी की उच्चतम स्तर की। यदि इनमें से एकाग्रता शब्द, जो सब में सम्मिलित है, को निकाल दें तो जो शेष रह जाता है वह केवल निम्न, उच्च और उच्चतम है। इस प्रकार व्यक्ति को (ईश्वर) परम की ओर चलना पड़ता है। दूसरी ओर यदि हमारे विचार एकाग्रता के विचार में उलझे रहें तो आन्तरिक शक्ति हमें उन्नति के शिखर पर पहुँचने की प्रेरणा देने के लिए क्रियाशील नहीं होगी। अतः उचित यही है कि विचार को संकल्प के रूप में, बिना किसी पूर्ण निर्णय और प्रयत्न का प्रभाव डाले, ग्रहण कर लेना चाहिए; और एक सौम्य तथा स्वाभाविक रूप से, बिना कृत्रिमता का दबाव या बोझ डाले हुए आगे बढ़ना चाहिए। सहज मार्ग में इस विधि का अनुसरण किया जाता है, जो वास्तव में सद्गुरु की प्राणाहुति के द्वारा आरम्भ से ही उस दशा के प्रारम्भ से होता है जो अन्तिम स्थिति में परिव्याप्त है। यद्यपि आरम्भ में अभ्यासी को यदा-कदा इसकी झलक दिखलाई देती है तथापि लगातार अभ्यास

से वही दशा पूर्णरूप से छा जाती है। इसी कारण ध्यान करते समय विचारों के लगातार आने पर भी, सहज मार्ग पर आरूढ़ व्यक्ति एकाग्रता की अनोखी दशा का अनुभव करता है जिसे सही रूप में लय-अवस्था कहा जा सकता है।

—×—

प्रेम का मार्ग

आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में जब साधक की ऐसी भावना होने लगती है कि जो भी सद्गुरु बतलाता या देता है वह बिल्कुल सही और उसके लिए लाभप्रद है, तब सद्गुरु में श्रद्धा का आरम्भ हो जाता है। जब इस प्रकार होता है तब वह उसे अधीनता की भावना से स्वीकार कर लेता है। धीरे-धीरे जैसे उसका संतोष और विश्वास अनुभव और संपर्क से बढ़ने लगता है, मालिक के प्रति दासत्व और समर्पण भी बढ़ता जाता है, और दृष्टिकोण संशयरहित हो जाता है। यह क्रम साधारणतया उन सब पर लागू होता है जो ईश्वर-साक्षात्कार की अभिलाषा से उस मार्ग पर आँखें खोलकर चल रहे हैं।

परन्तु जहाँ तक मेरा सवाल है, मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मैं तो इस मार्ग में ईश्वर-प्राप्ति का उद्देश्य लेकर नहीं आया। मेरा ऐसा इरादा या लक्ष्य ही नहीं था, सिवाय उसके जिसे मैं चाहता था, मेरी दृष्टि और चीज़ों की तरफ़ से बिल्कुल अंधी थी। मैं तो केवल एकमात्र उन्हीं, 'अपने मालिक' की ही तलाश में था। मेरे लिए वही मेरे जीवन-सर्वस्व थे। मेरी नजर के सामने और कुछ था ही नहीं। मेरे अन्तस्तल की गहराई में उनकी मूर्ति बसी हुई थी। मैंने उनकी आकृति के अतिरिक्त और किसी चीज को देखा ही नहीं। न मुझे दुनिया के भोग-

विलास की इच्छा थी, न स्वर्ग की चाह। मुझे लगता था जैसे ईश्वर से मुझे कोई वास्ता नहीं है। मुझे तो यही तड़प थी कि मैं भी ठीक उसी तरह का अन्त प्राप्त करूँ जैसा उनका था। न उससे कम न आगे। ईश्वर-साक्षात्कार की तो मुझे बिल्कुल इच्छा तक नहीं थी, भले साधारण लोग इसके लिए मुझे नास्तिक या काफिर अपनी समझ के मुताबिक जो भी हो, कहें। मैं तो उनके प्रेम में इस प्रकार पागल हो गया था कि बाकी सब चीजों की तरफ से मैं बिल्कुल अन्धा-सा हो गया था। लोग भले इसे अन्ध-विश्वास कह कर निन्दा करें, पर मेरे प्रेम का पागलपन मुझे यहाँ तक खींच ले आया। मैं शान्ति के शाश्वत आनन्द की अपेक्षा प्रेम की सूनी-अँधियारी गलियों में पड़े रहना अधिक पसन्द करता था। पर यह पागलपन का रास्ता मैं सिर्फ अपने लिए ही सुरक्षित रखना चाहता हूँ, और किसी को मैं इस पागल-पन की राह की ओर प्रेरित नहीं करता। उनकी हर भंगिमा मेरे लिए ईश्वरीय रहस्य का उद्घाटन थी, हर शब्द अध्यात्म की उपनिषद् और हर क्रिया 'अज्ञात' का अनावरण। मेरे सामने न पसन्दगी थी, न विकल्प, यहाँ तक कि सही और गलत के भेद का भी मुझे भान न था। मेरे लिए उनका सब कुछ ठीक वही था, जो होना चाहिए था। मैं उनकी इच्छा का पूरा दास था, और उसके विरुद्ध क्षण भर के लिए भी, मैं सोच ही नहीं सकता था। मैं इस सिद्धान्त का अक्षरशः अनुसरण करता था—

"अगर तुम्हारा आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक तुम्हें पूजा के आसन

को शराब में रँग लाने को कहे, तो वही करो। क्योंकि वह पूरी दूरी तय कर लेने के कारण रास्ते के ऊँच-नीच से पूरी तरह परिचित है।" (निजामी की लैला-मजनूँ से)

कोई इसे मेरी बड़ी भारी भूल समझ सकता है। पर मेरा सीधा-सादा जवाब यही है कि मजनूँ की तरह मैं, प्रेम के पागल-पन में, आपे से बाहर हो रहा था। और,. एक मजनूँ को ठीक से देखना सिर्फ लैला की नजरों से ही हो सकता है। मुझे तो सिर्फ मेरी प्रेमिका लैला से ही वास्ता था। थोड़े से शब्दों में यही है मेरी दास्तान या मेरे हालात। परन्तु दूसरों के लिए भी ऐसे ही पागलपन के प्रेम का मार्ग अनुसरण करने पर मैं जोर नहीं देता।

शास्त्र उनके लिए मूल्यवान् हो सकते हैं जिन्हें स्वयं-सुख-प्राप्ति, हूर-परियों के सुखद सहवास या ईश्वर-साक्षात्कार की इच्छा हो। चूँकि मुझे इनमें से किसी की भी इच्छा नहीं थी इसलिए शास्त्रों का मेरे लिए कोई विशेष उपयोग न था। इसके अलावा यद्यपि शास्त्रों में ईश्वर से सम्बन्धित विषयों की चर्चा होने के कारण उन्हें बड़ा महत्त्व दिया जाता है फिर भी यह सर्वविदित बात है कि उनमें काफी अस्पष्टता भी विद्यमान है जिससे बचने के लिए मनु महाराज को स्पष्ट शब्दों में कहना पड़ा कि, "वेदों तक में जो युक्तिसंगत न लगे उसे स्वीकार न करो और उसका अनुसरण मत करो।" उनके आध्यात्मिक महत्त्व

के बारे में मैं साफ साफ कह सकता हूँ कि वे आचरण के प्रारम्भिक नियमों एवं सिद्धान्तों की चर्चा के ग्रन्थ हैं। इसलिए वे वास्तव में आध्यात्मिक साधना प्रारम्भ करने के लिए बनाये गये हैं। आप किसी भी श्रुति को ले लीजिए, उनमें प्रारम्भिक कक्षा के लिए आवश्यक चीजों का ही विवेचन मिलेगा। उनका अध्ययन सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त करके विद्वान, पंडित या दर्शनशास्त्री बनने के लिए भले ही किया जाय, पर व्यावहारिक क्रियात्मक क्षेत्र में उनका महत्त्व बहुत कम है।

वास्तव में अध्यात्म के क्षेत्र का प्रारम्भ अनन्त सागर के तट पर पहुँचने पर होता है। उस स्थान से पहिले प्रतीत होने वाली सारी चीजें अध्यात्म का केवल आभास मात्र होती हैं। सभी श्रुतियाँ निश्चित रूप से इस कोटि के नीचे की हालतों से सम्बन्धित हैं। इसके अलावा उन पर उस वातावरण या प्रादेशिक स्थितियों का, जहाँ वे रची गई थीं, काफी अधिक प्रभाव है। उदाहरणार्थ, अगर कोई शास्त्र उत्तरी ध्रुव प्रदेश में लिखे गये होते तो उनमें प्रतिदिन स्नान करना जरूरी एवं मांसाहार पर रोक-टोक का विधान न मिलता। सच तो यह है कि इनमें चरित्र और आचार के साधारण नियम बताये गये हैं जो ग्रन्थकर्त्ता ऋषि के अपने निजी अनुभवों पर आधारित थे तथा साथ-साथ उनके अपने वातावरण तथा प्रादेशिक स्थितियों से पूरा तालमेल रखते थे।

अब मैं फिर से अपने मुख्य विषय पर आता हूँ। गुरु और

ईश्वर के पारस्परिक महत्त्व का प्रश्न उसी व्यक्ति के सामने उठ सकता है जो गुरु की मदद और पथ-प्रदर्शन द्वारा ईश्वर-साक्षात्कार का इच्छुक हो। जब ऐसी स्थिति रहती है तब स्पष्टतया उसकी दृष्टि में दो (ईश्वर और गुरु) रहते हैं। ऐसी स्थिति में तीसरे (अहं या साधक) की भी हम किसी भी भाँति अपेक्षा नहीं कर सकते। फलतः ब्रह्मा, विष्णु, महेश की तरह वहाँ भी यह एक त्रिपुटी की भाँति है। साधक इसी त्रयी त्रिपुटी में फँसा रह जाता है जिसे दूसरे शब्दों में हम अनेकत्व कह सकते हैं। पर जहाँ तक आध्यात्मिकता का प्रश्न है हमारा वास्तविक उद्देश्य अनेकत्व से एकत्व की ओर बढ़ता है, बल्कि उसके भी आगे वहाँ तक पहुँचता है जो, 'जो है सो है'। परन्तु हम जो रास्ता इस प्रकार पकड़ते हैं वह हमें प्राप्तव्य से ठीक उल्टे ले जाता है। ऐसे में क्या करना चाहिए इसका निर्णय तो हर व्यक्ति को स्वयं अपने-आप ही करना होता है। अपने विषय में समस्या का हल मैंने अपने ढंग से पागलपन का आश्रय लेकर किया। यह पागलपन था अपने सदृश एक मानव का प्रेम। यह उपाय उस दूसरे के लिए भी लागू हो सकता है जिसे ऐसा सद्-गुरु मिल जाय जो मेरे स्वामी की तरह अचूक, अतिमानव तथा वास्तविक अर्थ में ईश्वरीय हो।

कहा जाता है कि हम अपने गुरु को उतना ही प्यार करें जितना ईश्वर को। मेरे ख्याल से यह बिल्कुल अव्यावहारिक बात है कि एक साथ दो से एक सदृश प्रेम किया जाय! इन्सान

का दिल कोई सराय तो है नहीं, जहाँ हर कोई आ जाय और डेरा डाल दे। मोहब्बत में दुहरी वफादारी तक को जगह नहीं तो अनेक की तो बात ही कहाँ ? यहाँ तो प्रेमी और प्रेमिका के द्वैत तक की गुंजाइश नहीं है। कहा है—

जब मैं था तब तू नहीं, अब तू है मैं नाहिं।
प्रेम गली अति साँकरी, ता में दो न समाहिं।।

ऐसी है प्रेम की डगरिया। इसी में गुरु और ईश्वर की तुलनात्मक स्थिति का जवाब भी मिलेगा। इसका मतलब यही है कि हमें इन दो में से एक को त्यागना पड़ेगा। इस विषय में स्वामी विवेकानन्द के शब्द हमें याद दिलाते हैं—"अपने गुरु को ही साक्षात् ब्रह्म जानो।" यही एक मात्र हल है। परन्तु यह उन गुरुओं को लागू नहीं होता जिन्होंने उपदेश और प्रवचन को अपनी रोजी-कमाई का साधन बना लिया है, और जो नाम, प्रसिद्धि, धन-दौलत के पीछे पड़े हुए हैं।

मेरी ओर से मैं हमेशा अपने को किसी भी प्रकार की सेवा के लिए समर्पित करता हूँ, चाहे वह आध्यात्मिक न हो तो शारीरिक ही सही; क्योंकि मैंने देखा है अधिकांश लोगों को मेरी आध्यात्मिक सेवा की जरूरत नहीं लगती। तो भले ही वे मुझसे शारीरिक सेवा ही ले लें जिससे उन्हें थोड़ा-बहुत चैन या सुविधा तो मिल सके। इसके लिए मैं थोड़ी-बहुत कठिनाई सहने को भी तैयार हूँ। क्योंकि शारीरिक पीड़ाएँ मुझे पहले

ही से बहुत-सी हैं; उनमें थोड़ी और बढ़ोत्तरी से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा। हर शारीरिक कष्ट में मुझे एक विचित्र तरह की खुशी का अनुभव होता है जो बड़े-से-बड़े सम्राट को भी प्राप्त नहीं हो सकता। अब तक मुझ पर एक-पर-एक बहुत से पर्दे पड़े हुए थे। परन्तु वर्तमान पर्दा जो अब बाकी बचा है अगर बारीकी से देखा जाय तो केवल नग्नता का पर्दा मिलेगा जो अन्तिम है और जिसके दूर हट जाने पर उसकी जगह और कोई पर्दा नहीं आयेगा। मैं चाहता हूँ कि आप सबको उसी नग्नता का लिबास पहनने को मिले। पर यह तब तक सम्भव नहीं है जब तक हम इस बाहरी पर्दे—'भौतिक शरीर'—के लुभावनेपन और आकर्षणों में फँसे पड़े हैं।

मालिक की सहायता

आज सारी दुनिया में शान्ति के लिए पुकार मची हुई है, और सभी राष्ट्रों के कर्णधार उसे लाने की जी-जान से प्रयत्न कर रहे हैं। परन्तु जिन उपायों से लक्ष्य को प्राप्त करने की कोशिश की जा रही है उनसे अब तक कोई संतोषजनक परि-णाम निकलने की आशा बहुत कम है। विश्व-शान्ति स्थापित करने के बहुतेरे उपाय प्रभावकारी न होने का मुख्य कारण यही है कि वे सब बाहरी हैं और समस्या के केवल छोरों को ही स्पर्श करके रह जाते हैं। वास्तव में विश्व-शान्ति तब तक सम्भव नहीं होगी जब तक हम व्यक्ति के मन की आन्तरिक हालत का लेखा-जोखा न ले लें। विश्व-शान्ति का व्यक्ति की शान्ति से सीधा सम्बन्ध है और उसके लिए व्यक्तिगत मन को आवश्यक स्तर तक लाना होगा। यदि व्यक्ति का मन स्थिर और शान्त अवस्था में ले आया जाय तो उसे दुनिया की हर चीज उसी रंग में रँगी दिखाई देगी। इसलिए हर व्यक्ति के भीतर शान्ति और संतोष की स्थिति विकसित करने के उपाय ढूँढ़ना अत्यन्त आवश्यक है। इस तरह विश्व-शान्ति की प्राप्ति के लिए हमें केवल इतना ही करना है कि लोगों की व्यक्तिगत मानसिक वृत्तियों को सही मोड़ मिल जाय। इसका अर्थ होगा मन का सम्यक्-सुनियमन ताकि उसमें संतुलन (या एतदाल)

की स्थिति आ जाय। संसार में शान्ति लाने का एकमात्र यही उपाय है। इसलिए हम सब का कर्त्तव्य है कि हर व्यक्ति अपने व्यक्तिगत 'स्व' के भीतर मानसिक शान्ति का विकास करे। पर यह बात पूर्णतया केवल अध्यात्म के क्षेत्र की चीज है, इसलिए उसकी प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक उपायों का ही आश्रय लेना पड़ेगा।

स्वामी विवेकानन्द के कथनानुसार हिन्दूधर्म की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें हर तरह की रुचि, मानस एवं योग्यता वाले व्यक्ति को जीवन के उच्चतम आदर्शों की प्राप्ति हो सके, इसके रास्ते और उपाय बतलाये गये हैं। इस लक्ष्य के लिए कुछ लोगों को उसमें मूर्ति या चित्रों की पूजा का विधान बताया गया है; दूसरों के लिए देवी-देवताओं की आराधना कही गई है तथा कुछ औरों को ईश्वर के साकार या निराकार रूप की पूजा बतलाई गई है, इत्यादि-इत्यादि। इसके भी आगे कुछ उच्च क्षमता वालों के लिए उपासना, भक्ति एवं ज्ञान आदि के मार्ग हैं। उनमें भी उच्चतर आदर्शों की प्राप्ति के लिए योगमार्ग का विधान है जिसका वर्गीकरण हठयोग, राज-योग आदि के साथ-साथ विभिन्न शाखाओं के रूप में किया गया है। मोक्ष या पूर्ण भक्ति की प्राप्ति के लिए प्राचीन एवं अर्वाचीन सभी महान् ऋषियों का एकमत है कि केवल मात्र राजयोग ही ऐसा मार्ग है जिससे मानव की पहुँच की अन्तिम सीमा तक पहुँचा जा सकता है। और, पूर्ण भक्ति के सच्चे

जिज्ञासु को देर-सबेर कभी-न-कभी इस मार्ग का अनुसरण करना पड़ेगा। 'सहजमार्ग' अधिकांशतः राजयोग के बिल्कुल साथ-साथ चलता है, पर अब तक इस नाम से प्रचलित पद्धति की अनावश्यक वस्तुओं को निकाल देने के उद्देश्य से इसमें कई संशोधन एवं परिवर्द्धन किये गये हैं।

आन्तरिक शान्ति की प्राप्ति के लिए मन का ठीक सुनियमन अत्यन्त आवश्यक होने से हमें आरम्भ से ही मन की वृत्तियों को समुचित रूप से ढालने की ओर ध्यान देना होगा। ये वृत्तियाँ साधारणतया इन्द्रियों की आसक्तियों के प्रभाव से लगातार विक्षुब्ध बनी रहती हैं। वास्तव में शान्ति के उद्देश्य से की गई हर साधना का यही मूलगत लक्ष्य बनना चाहिए। जो साधना साधक के मन की वृत्तियों के संतुलन का आश्वासन न दे सके उससे कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता। अपने प्राक्तन स्वरूप में मन विशुद्ध और सुनियमित अवस्था में था। इन्द्रियों के सर्वतोमुखी प्रभाव से बिगड़ते-बिगड़ते अब वह प्रदूषित हो गया है। अब उसे सुधारकर सही रूप में लाना है। इसकी पूरी जिम्मेदारी स्वयं व्यक्ति के अपने ऊपर ही है। करीब-करीब सभी साधनाओं का उद्देश्य मूलतः यही है, पर इसी की सबमें उपेक्षा की जाती है। मन को वश में करने के अधिकांश उपाय, यथा—त्याग, तपस्या, शरीर-यातना आदि से उसकी गलत दिशा में जाने वाली प्रवृत्तियों से छुटकारा नहीं मिलता। ये सारी बुराइयों को केवल अन्दर दबाये रखती हैं, जो कभी भी अवसर

पाकर, नियन्त्रण कम होते ही, वेग से फूट निकलती हैं। इसलिए समस्या का वास्तविक सुलझाव मन को दबाना या उस पर रोक लगाना या यन्त्रणा देना आदि नहीं है बल्कि उसे धीरे-धीरे इस तरह सुधारना है, जिससे उसको गलत प्रवृत्तियों से छुटकारा मिल जाय।

बहुधा प्रारम्भ में ही लोग मन के स्वाभाविक कार्य-कलाप को भी रोक देना चाहते हैं ताकि उसमें मूर्च्छा या अचेतनता की हालत पैदा हो जाय। आजकल के 'गुरु' लोग भी जनता पर अपना सिक्का जमाने के चक्कर में ऐसी पद्धतियों का प्रयोग करते हैं जो वास्तव में अध्यात्म के क्षेत्र से कोसों दूर ले जाती हैं। उनके अनुयायियों की भी विवेक-बुद्धि नष्ट हो जाने से वे उसके रंग-बिरंगे रूपों को पहचानने में असमर्थ रहते हैं। धीरे-धीरे उनका आकर्षण सिर्फ इन रंगीनियों की ओर ही बढ़ता चला जाता है और उनके यन्त्रवत् मस्तिष्क को केवल किसी 'मिस्त्री' पथ-प्रदर्शक की जरूरत रह जाती है, जो उन्हें यांत्रिक उपायों से ही बढ़ाता ले जाय। नतीजा यह होता है कि वे जीवन भर अपनी इस यान्त्रिक उपज के आकर्षणों में ही हमेशा के लिए अटके रह जाते हैं। परन्तु इसके लिए केवल वे ही दोषी नहीं ठहराये जा सकते। वास्तव में वे रंग-बिरंगे प्रवचनकारों द्वारा व्यासपीठों से उगले हुए मृदुल विष के प्रभाव से चेतनाहीन पड़े हैं और उसी में संतृप्ति अनुभव कर रहे हैं। फलस्वरूप वे कुछ मादक द्रव्यों तथा मोहन कर्मकांड या तन्त्रों

द्वारा उत्पन्न तरह-तरह के नशों के बुरी तरह अभ्यस्त हो जाते हैं। 'गुरु' लोग भी अपने शिष्यों में यही मादक प्रभाव भरते रहते हैं जो उनकी इन्द्रियों को स्वादिष्ट प्रतीत होता है और इसीलिए वे उसे बहुत पसन्द करते हैं। यह हालत है गुरुजी की और उनके शिष्यों की। एक अपने महत्व की भावना और अहंकार से भरा रहता है, और दूसरा इन्द्रिय-सुख की लालसा में आकंठ डूबा हुआ है जिसे स्थूल समझ के कारण वह आनन्द की एक अवस्था मान बैठा है। अध्यात्म का क्षेत्र वास्तव में इन्द्रियों की पहुँच के आगे शुरू होता है; और स्पष्ट तो यह है कि वह व्यक्ति जिसने इन्द्रियों की सीमा पार नहीं की, सही अर्थ में गुरु है ही नहीं। वह केवल आलस्यपूर्ण शिथिलता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दे सकता, जिसे आध्यात्मिक स्थिति समझने की कल्पना तक भयंकर होगी।

सहज मार्ग में प्रारम्भिक स्थितियों में अभ्यासी बहुधा एक प्रकार की अन्तःशोषण की सी स्थिति का अनुभव करता है जो एक प्रकार के हल्के नशे से मिलती-जुलती होती है। लेकिन यह ऊपर कही हुई 'अलसाई शिथिलता' से बिलकुल भिन्न होती है। वास्तव में यह मानना अधिक उपयुक्त होगा कि हम उसे एक आनन्ददायी शान्ति की अवस्था कहें, जिसमें इन्द्रियजन्य भारीपन नहीं रहता। अभ्यासी इस भारीपन से बिल्कुल मुक्त रहता है। उसे आत्मा का नृत्य कह सकते हैं जो बहुत उच्च कोटि का नृत्य है। जब नर्त्तक अपने नृत्य में पूरी तौर से लय

हो उठता है, तब वह भगवान कृष्ण के रास नृत्य के समकक्ष पहुँच जाता है, जो देखने वालों को आनन्दविभोर कर डालता था। पर अब इस प्रकार का नृत्य बिल्कुल अज्ञात और पुराना पड़ गया। प्राचीन ग्रंथों में भी कहीं इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। भगवान् शिव का ताण्डव नृत्य बिल्कुल इसके सदृश तो नहीं था, पर इससे बहुत कुछ मिलता-जुलता था परन्तु कुछ स्थूलतर प्रकार का था।

साधना के दो पहलू होते हैं। एक तो अभ्यास, दूसरा सद्गुरु की सहायता। अभ्यास से केवल उन भीतरी हालतों का निर्माण होता है, जो आगे चलकर अभ्यासी को ईश्वरीय कृपाधारा को आकर्षित करने में उसकी मदद करें; और उसके लिए व्यक्ति के अपने प्रयत्न की आवश्यकता होती है। पर केवल अपने प्रयत्न पर्याप्त नहीं होते। इसके साथ-साथ सद्गुरु की सहायता अत्यन्त आवश्यक है। सच तो यह है कि हमारे अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सबसे आवश्यक वस्तु केवल ईश्वर-कृपा है। परन्तु व्यक्ति की अपनी भीतरी जटिलताओं के कारण यह साधक के स्वप्रयत्नों की क्षमता के बाहर ही रहती है। इस कारण सद्गुरु की सहायता अपरिहार्य है। प्रारम्भिक स्थितियों में ईश्वरीय कृपा अभ्यासी में सद्गुरु के माध्यम से ही आ सकती है। इसलिए साधारणतया इसे सद्गुरु की कृपा ही माना जाता है। भले, सद्गुरु के माध्यम से आये या सीधे, दोनों स्थितियों में वह होती तो वही ईश्वरीय कृपा ही है। जब तक अभ्यासी में उसे सीधे

प्राप्त करने की क्षमता नहीं आती तब तक यह सद्गुरु पर ही निर्भर है कि वह अभ्यासी को उससे लाभान्वित करे। जब अभ्यासी में उसे सीधे खींचने की शक्ति विकसित हो जाती है तब सद्गुरु का कार्य लगभग सम्पन्न हुआ मान सकते हैं। हालाँकि फिर भी सुरक्षा की दृष्टि से सद्गुरु को उस पर सतर्कता से नजर रखनी पड़ती है। वास्तव में यही सच्चे सद्गुरु का वास्तविक कार्य है।

इस प्रकार सद्गुरु की सहायता साधना का अत्यावश्यक अंग सिद्ध होने पर हर अभ्यासी का प्रथम कर्त्तव्य हो जाता है कि वह मार्गदर्शन के लिए योग्य गुरु को खोजे, जो उसे प्राणाहुति, यौगिक क्रिया द्वारा आगे ले जावे। इच्छित फल-प्राप्ति की सिद्धि के लिए यही एकमात्र प्रभावकारी उपाय है। 'सहज-मार्ग' में अभ्यासी की ओर ईश्वरीय कृपा-धारा का मोड़ 'प्राणाहुति' की प्रक्रिया द्वारा किया जाता है। वास्तव में आध्यात्मिक उन्नयन का यह काम जो अभ्यासी के अपने प्रयत्नों द्वारा दशकों में भी असंभव होता, वही प्राणाहुति के द्वारा कम से कम समय में हो जाता है। शास्त्रों में लिखी पुरानी पद्धतियों के अनुसार अपने-आप ध्यान का अभ्यास करने में अक्सर गंभीर कठिनाइयाँ खड़ी हो जाती हैं। प्राचीन प्रणाली के अनुसार मन की अनवरत क्रियाशीलता को रोकने के लिए उससे लगातार संघर्ष में लगे रहना पड़ता है। यह संघर्ष पूरे समय चलता रहता है और वास्तविक सफलता के नाम कुछ नहीं मिलता।

इस तरह ध्यान कुछ नहीं हो पाता और सारा समय मन की वृत्तियों से जूझने और उनका दमन करने की कोशिश में ही नष्ट हो जाता है। सहजमार्ग-साधना में इस बहुत बड़ी कठिनाई को दूर हटाने के लिए हम अपने को ऐसे सद्गुरु की शक्ति के साथ सिर्फ जोड़ लेते हैं जिसका मन पूर्णतया सुनियमित एवं संतुलित हो चुका है। ऐसा करने से गुरु की शक्ति का अभ्यासी में संचार होने लगता है और उसकी मानसिक वृत्तियाँ सुनियमित होने लगती हैं। इस प्रकार अभ्यासी को निश्चित सफलता दिलाने के लिए 'प्राणाहुति' का सर्वप्रथम महत्व है। ईश्वर-कृपा से यदि हमें ऐसा सद्गुरु प्राप्त हो जाय, जो प्राणाहुति के द्वारा हमारी सहायता करने में सक्षम हो, तो हम अनेक युगों और जन्मान्तरों के भारी परिश्रम से बच जाते हैं। इसलिए मेरी आपसे हृदय से यही सलाह है कि आप पथ-प्रदर्शक के रूप में किसी ऐसे ही सद्गुरु की खोज कीजिए। निःसंदेह ऐसे मिलेंगे बहुत ही कम पर वे विद्यमान हैं इसमें कोई संदेह नहीं। और, एक अच्छा साधक, यदि वह वास्तव में जिज्ञासु है, उसकी खोज में निकल पड़े तो वह कभी असफल नहीं होगा।

यह सब कहने से मेरा मतलब कट्टरपंथी 'गुरुआई' का पक्षपोषण करना नहीं है। वह तो मेरे विचार में मानसिक दासता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। हमारी प्रणाली में इसकी जगह प्रेम पर आश्रित पारस्परिक भाईचारा, सेवा और त्याग है जो साधना का वास्तविक मूल आधार है। 'गुरु'

लोगों द्वारा शिष्यों से अपेक्षित सेवा के विचार की हम कड़े शब्दों में निन्दा करते हैं, जिसे वे शिष्यों से पवित्र संस्कारों के विकास की आड़ में करवाते हैं। दूसरी ओर हमारा विश्वास है कि वास्तविक सेवा-भाव रखकर कार्य करने वाले गुरु को स्वयं अपने शिष्य की केवल आध्यात्मिक सेवा ही नहीं बल्कि आवश्यकता पड़ने पर शारीरिक सेवा भी करनी चाहिए।

उपयुक्त पथ-प्रदर्शक या गुरु का चुनाव दूसरा विचारणीय प्रश्न है। अध्यात्म के क्षेत्र में गुरु का कार्य सबसे अधिक महत्व-पूर्ण एवं अनमोल वस्तु होने से मार्गदर्शक के रूप में बिल्कुल उपयुक्त व्यक्ति का चुनाव बड़ी सावधानी से करना होगा। इस विषय में जरा सी भी गलती हुई तो अक्सर उसके परिणाम बहुत भयंकर होते हैं। वास्तव में ईश्वर ही एक मात्र सच्चा पथ-प्रदर्शक या गुरु है, और हम सबको केवल मात्र उसी से प्रकाश मिलता है। परन्तु जिसने अपने हृदय को उस सीमा तक शुद्ध कर लिया है केवल वही उसके प्रकाश को उसी से आता अनुभव कर सकता है। एक साधारण मनुष्य को जो कि भौतिक जटिलताओं में गहराई तक फँसा हुआ है, यह अनुभव नहीं होता। इसलिए उसे अपने ही सदृश सहयोगी मानव की आवश्यकता पड़ती है जो उच्च कक्षा तक पहुँचा हुआ हो और इस दिशा में उसकी मदद कर सके। उसे हम पथ-प्रदर्शक, गुरु, स्वामी, मालिक चाहे जिस नाम से पुकारें, पर होता है वह हमारा मददगार और सहारा देने वाला ही, जो सेवा और

त्याग की भावना से काम करता है। उसकी भूमिका सर्वाधिक महत्त्व की होती है, क्योंकि वास्तव में केवल वही वह व्यक्ति है जो सच्चे जिज्ञासु को उत्थान की ओर खींचता है, और जड़ता की अनेक परतों के नीचे दबी हुई उसकी अंतर की ज्योति को पुनर्जाग्रत करता है। इस प्रकार उद्भासित की हुई ज्योति सबसे पहले बाहरी आवरणों पर अपना प्रतिबिम्ब डालने लगती है और उनमें से स्थूलता और मल को दूर करने लगती है। धीरे-धीरे उसका प्रकाश विकसित होता है और गहराई में पड़ी परतों पर भी असर डालने लगता है। हालांकि यह ज्योति व्यक्ति के अपने प्रयत्नों से भी जगायी जा सकती है, पर उसके लिए अनेक वर्षों का लगातार परिश्रम आवश्यक होता है। इस कारण अभ्यासी का योग्य पथ-प्रदर्शक के साथ सम्पर्क हो जाना उसके लिए अत्यन्त लाभदायी होता है। क्योंकि सद्गुरु अपने कर्त्तव्य से बद्ध होकर मार्ग की रुकावटों और अवरोध को अपने आप ही दूर करता रहता है।

यदि कोई सद्गुरु बन कर बड़प्पन और श्रेष्ठता की भावना से फूला हुआ अध्यात्म के क्षेत्र में लोगों के सामने आ खड़ा हो, तो वास्तव में उसे एक मात्र सच्चे गुरु–यानी ईश्वर—का स्थान अनधिकारपूर्ण ढंग से ले बैठा समझना चाहिए। इससे बिल्कुल निश्चित है कि ऐसा व्यक्ति दूसरों का वांछित सीमा तक लाभ नहीं कर सकता। अतएव यह बहुत आवश्यक है कि वह अपने को बहुत छोटा सामान्य व्यक्ति समझे और केवल प्रेम और

त्याग की भावना से काम करे। उसे व्यक्तिगत या सामूहिक दोनों तरह से मानव मात्र की सेवा करने में पूरी तरह से लगा रहना होगा। सेवा शारीरिक अथवा आध्यात्मिक दोनों प्रकार की हो सकती है। आध्यात्मिक सेवा में तो उसे सदैव लगा रहना चाहिए ही, साथ ही आवश्यक होने पर शारीरिक सेवा करने के लिए भी उसे तत्पर रहना चाहिए। बड़प्पन, आत्मश्लाघा तथा अहंकार की भावनाओं से उसे बिल्कुल विरहित रहना होगा। उसे कोरे सिद्धान्तों का प्रवचनकार नहीं होना चाहिए बल्कि एक व्यावहारिक क्रियाशील व्यक्ति होना चाहिए जिसने साधना-पथ पर मानवीय पहुँच की अन्तिम स्थिति तक सारी दूरी तय कर लिया हो और अनन्त की अवस्था में पूरी तरह लय हो चुका हो। केवल मात्र ऐसा व्यक्ति ही सद्गुरु का काम करने के लिए सर्वोत्तम हो सकता है, और वही अभ्यासी को अध्यात्म-साधना के पथ पर ले जाने में समर्थ होता है। ऐसी अवस्था में उस व्यक्ति से सभी समय अपने आप आध्यात्मिक शक्ति विकीर्ण होती रहती है, और उसके आस-पास वालों पर प्रभाव डालती है। परन्तु ऐसे विशिष्ट व्यक्ति संसार में प्रकृति की देन होते हैं। वे संसार में केवल प्रकृति की इच्छा से ही प्रकृति का माध्यम बन कर उसका काम करने के लिए आते हैं। ऐसी महान आत्मा की तलाश यदि सम्भव हो और यदि वह मिल सके तो अवश्य करनी चाहिए। और यदि यह न हो सके तो हमें उनसे दूसरे स्थान वाले उच्चतम व्यक्ति से सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए जो हमारी पहुँच के भीतर हों। उनके

विस्तार की सीमा में अपने को विलीन कर देने से अभ्यासी उनके जितना विस्तार प्राप्त कर सकता है।

हर एक संत या योगी का अपना निज का एक हद तक बड़ा या छोटा विस्तार-क्षेत्र होता है। परन्तु जब साधक की दृष्टि दृढ़ता से ईश्वरीयता पर जम जाती है तब इस प्रकार उज्जीवित की हुई ईश्वरीय धारा का प्रभाव महत्तम विस्तार विकसित कर देता है। नीचे के स्तरों में विस्तार कम होता है। हमारी संस्था में हर एक अभ्यासी के विस्तार की अपनी सीमा होती है जो उसकी स्वयं विकसित की हुई क्षमता के अनुरूप होती है। इस तरह ईश्वर से सीधा सम्बन्ध जोड़ने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि अभ्यासी अपने युग में विद्यमान इस प्रकार की महानतम विभूति से सम्बन्धित हो जाय। ऐसी परिपूर्ण विभूति की प्राप्ति ही, दूसरे शब्दों में, ईश्वर की प्राप्ति है। हमारे शास्त्र भी इस मत की परिपुष्टि करते हैं। यदि किसी समय में इस प्रकार की विभूति पहुँच के बाहर हो तो केवल मात्र उचित रास्ता यही होगा कि हम ऐसे से सम्बन्ध जोड़ लें जो महान विभूति से बराबर जुड़ा हुआ हो। क्योंकि यदि सर्वोत्तम पहुँच के बाहर हो तो उसके दूसरे स्थान वाले तक पहुँचना आवश्यक है।

एक दूसरे कारण से भी उच्चतम क्षमता वाला गुरु अपरिहार्य है। हमारी आध्यात्मिक यात्रा के दौरान हम एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक बीच की दूरी को तय करते हुए जाते हैं। इन

बीच की दूरी की जगहों को प्रतिरोधक (Buffers) कहते हैं। जब तक इन्हें पार न किया जाय तब तक दूसरे बिन्दु तक पहुँचना सम्भव नहीं होता। परन्तु इन्हें पार करते समय इनके सारे विस्तार की पूरी यात्रा करनी पड़ती है जिससे उसका अनुभव या भोग पूर्ण किया जा सके। यह किये बिना आगे की चढ़ाई किसी प्रकार भी सम्भव नहीं होती। अब यदि कोई यह सब केवल अपने स्व-प्रयत्नों से प्राप्त करने का प्रयास करे तो वह इसकी उलझनों में बुरी तरह फँस कर अनिश्चित काल तक उसके भीतर ही अटका रह जाता है। इसके अपवाद भी हो सकते हैं, पर वे नहीं के बराबर एवं विरल होते हैं, और तभी सम्भव होते हैं जब किसी को असाधारण क्षमता के साथ-साथ ईश्वर की विशेष कृपा का वरदान मिला हुआ हो। इन सब कठिन गुत्थियों एवं उलझनों से सुरक्षित रूप में पार करा सकने वाली शक्ति अवश्य ही केवल ऐसे व्यक्ति में होगी जिसने असल भंडार से अटल अकाट्य रूप से अपना सम्बन्ध जोड़ लिया हो। इस तरह हमारे उद्देश्य को पाने के लिए ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता क्या सिद्ध नहीं होती? अवश्य होती है। चाहे आप उसे अपना स्वामी कहिए या सेवक, है वह आपका पथ-प्रदर्शक, शिक्षक या प्रचलित भाषा में 'गुरु' ही। आप उसे जिस किसी भी रूप में लें, इसका कोई महत्त्व नहीं।

हर दो बिन्दुओं के बीच की दूरी में असंख्य प्रतिरोधक (Buffer) हैं। हमारी यात्रा के दौरान इन सब में से होकर

गुजरना पड़ता है। उच्चकोटि के सुयोग्य सद्गुरु की सहायता से 'भोग' की प्रक्रिया काफी कम हो जाती है, और अभ्यासी का इन स्थानों पर ठहराव बहुत घट जाता है। इससे समय और शक्ति दोनों की बड़ी भारी बचत होती है। गुरु की सहायता की उपस्थिति से भोग कैसे निष्प्रभाव हो जाते हैं, यह बात शायद कुछ लोगों को अजीब और अस्वाभाविक लगे। वास्तविक बात यह है कि जिस स्थान पर अभ्यासी का ठहराव होता है, वहाँ की हालत उसके चारों ओर एक जाला-सा जकड़ लेती है जिसमें अभ्यासी पूरी तरह फँस जाता है। जब तक उसे तोड़ कर चूर-चूर न कर दिया जाय, उच्च आरोहण असंभव हो जाता है। अपने 'स्व' के प्रयत्नों से व्यक्ति कभी-कभी किञ्चित् मात्र प्रगति कर भी ले, तो फिर फिसलकर तुरन्त वहीं आ गिरता है। व्यावहारिक निरीक्षण से पता चला है कि कुछ प्राचीनतम को छोड़कर अधिकांश (स्व-प्रयत्नशील साधक) ऋषि इन प्रति-रोधकों को पार नहीं कर पाये। वे अनिश्चित काल तक किसी एक या दूसरे के भीतर अब भी, बाहर निकलने का रास्ता पाये बिना ही, जहाँ-तहाँ भटक रहे हैं। इसका सीधा-सादा कारण यही हो सकता है कि उनके गुरु में उनके बदले इन्हें अपनी उच्च शक्ति से हटाने की सामर्थ्य नहीं थी। जो केवल अपने प्रयत्नों पर भरोसा रखकर चले, वे पहली या दूसरी मंजिल पर ही अटक गये। सद्गुरु की सहायता रहने पर 'भोग' में से गुजरने की आवश्यकता क्यों नहीं पड़ती? यह समझना बहुत कठिन नहीं है। वास्तव में 'भोग' का मतलब केवल भूतकाल में किये

कर्मों का फल भुगतना ही नहीं होता, पर साथ ही जिस जाल में हम फँस गये, उसके असर को दूर करना भी होता है। जब वह विदीर्ण कर दिया जाता है तभी अभ्यासी आगे के बिन्दु तक बढ़ सकता है और यह केवल सद्गुरु की सहायता से ही संभव हो सकता है।

कुछ लोगों के मन में यह भ्रामक विचार हुआ है कि व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक साधना अपने स्वयं के प्रयत्नों से ही आगे बढ़ा सकता है। उपरोक्त चर्चा करने का मेरा उद्देश्य इस भ्रम को दूर करना है। कुछ सीमित हद तक भले ही यह सम्भव हो, और वह भी तब जब कोई विशेष क्षमता का अनुग्रह पाकर आया हो। इसके आगे यह नितान्त असंभव और अव्यावहारिक है। अतएव एकमात्र रास्ता यही है कि हम किसी अपने सदृश ऐसे मानव की ही सहायता लें जो वास्तविक सामर्थ्य रखता हो। योग्य सद्गुरु का चुनाव निस्संदेह बड़ा कठिन कार्य है। अपने निजी अनुभव के आधार पर गुरु की योग्यता जाँचने का एक आसान तरीका मैं आपको बतलाता हूँ। जब आप किसी ऐसे के सम्पर्क में आयें तो यह समझने की कोशिश करें कि उसके संसर्ग से आपको शान्ति और स्थिरता का अनुभव होता है क्या ? और, भले थोड़े से समय के लिए ही सही, मन पर भारीपन-सा लाये बगैर, उसकी चंचल वृत्तियों में कुछ शान्ति आती है क्या ? अगर ऐसा होता हो तो समझ लीजिए कि वह आपका पथ-प्रदर्शन करने योग्य व्यक्ति है।

एक कठिनाई और भी है। वह यह है कि ऐसा गुरु मिलकर और हमारी पहुँच के भीतर होकर भी जब तक वह कोई आश्चर्य-जनक चमत्कार न दिखलाये, साधारणतया उस पर विश्वास नहीं बैठता। प्राणाहुति देने की शक्ति से सम्पन्न राजयोगी में चमत्कार दिखलाने की क्षमता अवश्य होती है। पर वह कभी चमत्कारों का प्रदर्शन करना पसन्द नहीं करेगा। क्योंकि यह कार्य उसकी साधु-स्थिति को लांछित करता है। इसके अलावा व्यावहारिक अनुभव से यह पूर्णतया सिद्ध होता है कि चमत्कारों का कोई वास्तविक मूल्य या प्रभाव नहीं होता, क्योंकि वे किसी भी तरह असली श्रद्धा उत्पन्न नहीं कर सकते। ईसा मसीह का दृष्टान्त हमारे सामने है। उन्होंने जीवन भर चमत्कार दिख-लाये। फिर भी उन्हें केवल बारह शिष्य मिल सके, और उनमें एक ऐसा भी निकला जिसने बाद में उन्हें शूली पर चढ़वाने का षड्यंत्र रचा। स्पष्ट है कि उनके चमत्कारों से लोगों में श्रद्धा पनपाने में कोई मदद नहीं मिली। वास्तव में केवल उनके सदु-पदेशों के प्रभाव के कारण कालान्तर में इतनी बड़ी संख्या में उनके अनुयायी बने। इसलिए चमत्कारों की ओर लगाने के बजाय हमें अपनी दृष्टि केवल परम तत्त्व पर स्थिरतापूर्वक जमाये रखना ही अच्छा होगा, और यही हमारे हक में सबसे अधिक श्रेयस्कर होगा। चमत्कार निस्संदेह बहुत ही क्षुद्र वस्तु है जो बिल्कुल साधारण बुद्धि और नीची कक्षा की उपलब्धि वाले लोग भी दिखा सकते हैं। चमत्कार को किसी सन्त या योगी की कसौटी कभी भी नहीं मान सकते। इसके विपरीत यह

तो निर्बल और भोले लोगों को गुरुआई के घेरे में फँसाने के लिए चतुर 'गुरु' लोगों द्वारा जान-बूझकर दिखाये जाते धोखा भरे हथकंडे हैं। चुनाव का अन्तिम निर्णय करने के पहिले हमें व्यक्ति (गुरु) की सामर्थ्य और गुणों के बारे में पूरा सन्तोष और विश्वास हो जाना आवश्यक है। इसके लिए उसके साथ लगातार सम्पर्क में रहना बहुत जरूरी है ताकि अपने खुद के निरीक्षण और व्यावहारिक अनुभव के आधार पर अन्तिम निर्णय किया जा सके। यह सब करने के बाद जब पूरा संतोष हो जाय तब हमें उसे सच्चा मानकर दृढ़तापूर्वक उस पर भरोसा रखना चाहिए। सफल साधना के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। धीरे-धीरे हममें अध्यात्म जीवन का सर्वाधिक सजीव अंग श्रद्धा विकसित होने लगती है। सद्‌गुरु का बाह्य रूप हमारी दृष्टि के सामने अधिकाधिक बना रहने लगता है, और उसकी याद पृष्ठभूमि में स्थिर बनी रहती है। विचारों की चंचलता पर विजय प्राप्त करने में सद्‌गुरु की स्मृति बड़ी मददगार होती है और आसानी से सफलता प्राप्त करने के लिए यह अपरिहार्य है। जहाँ स्मरण है वहाँ स्मरण का लक्ष्य अवश्य पास ही रहेगा। यह स्मरण अभ्यासी को एक ऐसे स्तर पर उठा देती है जहाँ वह अनुभव करने लगता है कि वह प्रियतम का दरवाजा खटखटा रहा है। प्रियतम को भी जब विश्वास हो जाता है कि सच्चा भक्त द्वार खटखटा रहा है तो वह स्वयं ही उसे भीतर लेने द्वार पर आ जाता है। इस तरह हमारी पहुँच के रास्ते में आने वाली

सारी रुकावटें अपने आप नष्ट हो जाती हैं, और हमें 'उस' का सान्निध्य लाभ हो जाता है। परन्तु इन सब की पूरी समझ हममें तभी आ पाती है जब हमने व्यावहारिक रूप से स्वयं इसका प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया हो। इस स्तर तक पहुँचने पर मनुष्य में ईश्वरीय गुण विकसित होने लगते हैं। इसका मतलब यही है कि अब हम ऐसी सुनहली धूप में आ गये जो असल भण्डार से निकली आ रही है अर्थात् हम मूल स्रोत तक पहुँच गये। अब हम अनन्त सागर में हैं और हमारा पैराव शुरू हो चुका है। अब हर चीज़ चली गई। केवल स्मरण अत्यन्त सूक्ष्म समर्पण में रूपान्तरित हो गया जिसके साथ-साथ अब मूक लगन और प्रसुप्त व्यग्रता हमारा एक मात्र साधन बन कर शेष रह गई। इस हालत में किसी तरह का लुभाव या स्वाद नहीं है, पर उसमें एक प्रकार का विचित्र आकर्षण है जिससे व्यक्ति क्षण भर के लिए भी अलग होना नहीं चाहता। जहाँ तक मेरा सवाल है, मैं तो इसका विनिमय किसी हालत में अपने जीवन तक से करने को तैयार नहीं हूँ। तथापि यह तो वास्तविकता का केवल अथ है, जहाँ पवित्रता, शान्ति और आनन्द तक की भी इति हो जाती है।

अब बताइए अगर एक व्यक्ति ईश्वर में लय हो जाय और दूसरा उसकी बनाई भौतिक रचना में तो, उसमें से हर एक को क्या-क्या मिलेगा? निश्चय ही एक को वास्तविकता मिलेगी और दूसरे को केवल उसकी अनुकृति। क्या इसका दोष ईश्वर के

मत्थे मढ़ा जाय ? कदापि नहीं। ईश्वरीय धारा तो दोनों के लिए एक सरीखी ही बही है; अन्तर इतना ही है कि हर एक ने उसमें से हिस्सा लिया अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार। मैं अपने सभी भाइयों से एकत्व अनुभव करता हूँ। क्योंकि हम सब उसी एक स्वामी—ईश्वर—से जुड़े हुए हैं। इसमें ऊँच-नीच या बड़े-छोटे का विचार रत्ती भर भी नहीं होता। कोई मानव रूप धारी मानवीय दृष्टिकोण से बड़ा या महान हो सकता है, पर हो सकता है कि वास्तव में वह सबसे छोटा हो। सच तो यह है कि उसके छोटेपन में ही उसका बड़प्पन है, यद्यपि अपनी व्यक्तिगत हालत में वह 'शून्य' से अधिक कुछ भी न हो। पर 'शून्य' का भी अपना अलग महत्त्व है, क्योंकि किसी भी अंक के बाद इसे लगा देने से उसकी कीमत बढ़ कर दस गुनी हो जाती है। यही वह चीज़ है जहाँ भक्ति अन्त में हमें पहुँचा सकती है।

यह मेरा हृदय आप सबको क्रीड़ास्थल के रूप में अर्पित है। भले कोई इसे मनोरंजन-क्षेत्र के रूप में अपने मनोरंजन के लिए बरते, या कोई पागल बन कर विचरने का वीराना बनाये। जैसे भी पसन्द हो वह इसका उपयोग करे। यह हर एक के बसने के लिए बिल्कुल खुला है। यहाँ कोई अपना प्रतिबिम्ब देख सकता है और दूसरा कोई अपने प्रियतम का रूप भी। समत्व प्रकृति की विशेषता है और हर एक को अपना उचित भाग उसमें से मिलता है। ईश्वर का समवृत्ति और समदर्शी दोनों होना विख्यात है। असली सद्गुरु का हृदय भी समता की भावना से भरा होना चाहिए, अन्यथा वह इस कार्य के लिए बिल्कुल ठीक नही है।

———